

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अवतरणिका—

श्रीभगवान् सातवें अध्यायमें अपने हृदयकी बात—विज्ञानसहित ज्ञान कह रहे थे। जब बीचमें ही आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर अपनी बात कहनेमें कुछ परिवर्तन हुआ, तब भगवान् पुनः विज्ञानसहित ज्ञान कहनेके लिये नवें अध्यायका विषय आरम्भ किया और उसकी समाप्ति भगवत्परायणतामें की। फिर भी भगवान्के मनमें और कहनेका भाव रहा। उन्हें अपने कथनपर संतोष नहीं हुआ। जैसे भक्तको भगवान्की बात सुनते हुए तृप्ति नहीं होती (गीता—दसवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक), ऐसे ही अपने प्यारे भक्त अर्जुनके प्रति अपने हृदयकी बात कहते-कहते भगवान्को तृप्ति नहीं हो रही है। कारण कि भगवान्के हृदयकी गोपनीय बात भक्तके सिवाय संसारमें और कोई सुननेवाला नहीं है। अतः भगवान् अर्जुनके बिना पूछे ही कृपापूर्वक दसवें अध्यायका विषय आरम्भ कर देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—

महाबाहो	= हे महाबाहो अर्जुन!	भूयः	= फिर	प्रीयमाणाय	= मुझमें अत्यन्त प्रेम रखनेवाले
मे	= मेरे	एव	= भी	ते	= तुम्हारे लिये
परमम्	= परम	शृणु	= सुनो,	हितकाम्यया	= हितकी कामनासे
वचः	= वचनको (तुम)	यत्	= जिसे	वक्ष्यामि	= कहूँगा।
		अहम्	= मैं		

व्याख्या—‘भूय एव’—भगवान्की विभूतियोंको तत्त्वसे जाननेपर भगवान्में भक्ति होती है, प्रेम होता है। इसलिये कृपावश होकर भगवान्ने सातवें अध्यायमें (आठवें श्लोकसे बारहवें श्लोकतक) कारणरूपसे सत्रह विभूतियाँ और नवें अध्यायमें (सोलहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक) कार्य-कारणरूपसे सैंतीस विभूतियाँ बतायीं। अब यहाँ और भी विभूतियाँ बतानेके लिये^१ तथा (गीता—आठवें अध्यायके चौदहवें एवं नवें अध्यायके बाईसवें तथा चौतीसवें श्लोकमें कही हुई) भक्तिका और भी विशेषतासे वर्णन करनेके लिये भगवान् ‘भूय

एव’ कहते हैं।

‘शृणु मे परमं वचः’—भगवान्के मनमें अपनी महिमाकी बात, अपने हृदयकी बात, अपने प्रभावकी बात कहनेकी विशेष आ रही है^२। इसलिये वे अर्जुनसे कहते हैं कि ‘तू फिर मेरे परम वचनको सुन’।

दूसरा भाव यह है कि भगवान् जहाँ-जहाँ अर्जुनको अपनी विशेष महत्ता, प्रभाव, ऐश्वर्य आदि बताते हैं अर्थात् अपने-आपको खोल करके बताते हैं, वहाँ-वहाँ वे परम वचन, रहस्य आदि शब्दोंका प्रयोग करते हैं; जैसे—चौथे अध्यायके तीसरे श्लोकमें ‘रहस्यं ह्येतदुत्तमम्’ पदोंसे बताते

१-इस (दसवें) अध्यायमें भगवान्ने चौथेसे छठे श्लोकतक अपनी पैतालीस विभूतियाँ बतायी हैं।

२-भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी तरफसे उन भक्तोंपर कृपा करके उनको ज्ञान दे देता हूँ—‘तेषामेवानुकम्पार्थम्’ (गीता १०। ११)—यह भगवान्का परम वचन है।

हैं कि जिसने सूर्यको उपदेश दिया था, वही मैं तेरे रथके घोड़े हाँकता हुआ तेरे सामने बैठा हूँ। अठारहवें अध्यायके चौंसठवें श्लोकमें 'शृणु मे परमं वचः' पदोंसे यह परम वचन कहते हैं कि तू सम्पूर्ण धर्मोंका निर्णय करनेकी झंझटको छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा; मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर (१८।६६)। यहाँ 'शृणु मे परमं वचः' पदोंसे भगवान्का आशय है कि प्राणियोंके अनेक प्रकारके भाव मेरेसे ही पैदा होते हैं और मेरेमें ही भक्तिभाव रखनेवाले सात महर्षि, चार सनकादि तथा चौदह मनु—ये सभी मेरे मनसे पैदा होते हैं। तात्पर्य यह है कि सबके मूलमें मैं ही हूँ।

जैसे आगे तेरहवें अध्यायमें ज्ञानकी बात कहते हुए भी चौदहवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने फिर ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की है, ऐसे ही सातवें और नवें अध्यायमें ज्ञान-विज्ञानकी बात कहते हुए भी दसवें अध्यायके आरम्भमें फिर उसी विषयको कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। चौदहवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने 'परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्' कहा और यहाँ (दसवें अध्यायके आरम्भमें) 'शृणु मे परमं वचः' कहा। इनका तात्पर्य है कि ज्ञानमार्गमें समझकी, विवेक-विचारकी मुख्यता रहती है; अतः साधक वचनोंको सुन करके विचारपूर्वक तत्त्वको समझ लेता है। इसलिये वहाँ 'ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्' कहा है। भक्तिमार्गमें श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता रहती है; अतः साधक वचनोंको सुन करके श्रद्धा-विश्वासपूर्वक मान लेता

है। इसलिये यहाँ 'परमं वचः' कहा गया है।

'यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया'— सुननेवाला वक्तामें श्रद्धा और प्रेम रखनेवाला हो और वक्ताके भीतर सुननेवालेके प्रति कृपापूर्वक हित-भावना हो तो वक्ताके वचन, उसके द्वारा कहा हुआ विषय श्रोताके भीतर अटलरूपसे जम जाता है। इससे श्रोताकी भगवान्में स्वतः रुचि पैदा हो जाती है, भक्ति हो जाती है, प्रेम हो जाता है।

यहाँ 'हितकाम्यया' पदसे एक शंका हो सकती है कि भगवान्ने गीतामें जगह-जगह कामनाका निषेध किया है, फिर वे स्वयं अपनेमें कामना क्यों रखते हैं? इसका समाधान यह है कि वास्तवमें अपने लिये भोग, सुख, आराम आदि चाहना ही 'कामना' है। दूसरोंके हितकी कामना 'कामना' है ही नहीं। दूसरोंके हितकी कामना तो त्याग है और अपनी कामनाको मिटानेका मुख्य साधन है। इसलिये भगवान् सबको धारण करनेके लिये आदर्शरूपसे कह रहे हैं कि जैसे मैं हितकी कामनासे कहता हूँ, ऐसे ही मनुष्यमात्रको चाहिये कि वह प्राणिमात्रके हितकी कामनासे ही सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करे। इससे अपनी कामना मिट जायगी और कामना मिटनेपर मेरी प्राप्ति सुगमतासे हो जायगी। प्राणिमात्रके हितकी कामना रखनेवालेको मेरे सगुण स्वरूपकी प्राप्ति भी हो जाती है— 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः' (गीता १२।४), और निर्गुण स्वरूपकी प्राप्ति भी हो जाती है— 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं च सर्वभूतहिते रताः' (गीता ५।२५)।

परिशिष्ट भाव—अर्जुन युद्धक्षेत्रमें आकर भी विजयकी कामना न रखकर अपना कल्याण चाहते हैं, इसलिये उनके लिये 'महाबाहो' सम्बोधन आया है। यह सम्बोधन अर्जुनकी श्रेष्ठताका, उपदेश धारण करनेकी सामर्थ्यका, अधिकारका सूचक है।

'परमं वचः'—जीवमात्रका कल्याण करनेवाले होनेसे भगवान्के वचन 'परम' अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। मात्र जीवोंका कल्याण करनेवाली होनेसे ही गीता विश्वमात्रको प्रिय, विश्ववन्द्य है।

'वक्ष्यामि हितकाम्यया'—अर्जुन जीवमात्रके प्रतिनिधि हैं और अपना हित ही चाहते हैं*। अतः भगवान् उनके अर्थात् जीवमात्रके हितके उद्देश्यसे परम वचन कहते हैं। कल्याणके सिवाय जीवका अन्य कोई हित है ही नहीं। भगवान्के वचन भी कल्याण करनेवाले हैं और उनका उद्देश्य भी कल्याण करनेका है, इसलिये भगवान्की वाणीमें जीवका विशेष कल्याण (परमहित) भरा हुआ है। जीवका जितना हित भगवान् कर सकते हैं, उतना दूसरा कोई कर सकता ही नहीं—

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं ॥

(मानस, किष्किंधा० १२।१)

* 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (गीता २।७)

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ (गीता ३।२)

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ (गीता ५।१)

दूसरोंकी वाणीमें तो मतभेद रहता है, पर भगवान्की वाणी सर्वसम्मत है। भगवान् योगमें स्थित होकर गीता कह रहे हैं^१; अतः उनके वचन विशेष कल्याण करनेवाले हैं। भगवान्का योगमें स्थित होना क्या है? भगवान् सामान्यरूपसे मात्र प्राणियोंके परम सुहृद् हैं, पर जब कोई व्याकुल होकर उनकी शरणमें आता है, तब भगवान्के हृदयमें उसके हितके विशेष भाव प्रकट होते हैं—यही भगवान्का योगमें स्थित होना है^२; जैसे—बछड़ेके सामने आते ही गायके शरीरमें रहनेवाला दूध उसके थनोंमें आ जाता है!

‘यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया’ पदोंसे भगवान् कहते हैं कि तुम्हारे भीतर मेरे प्रति प्रेमका भाव है और मेरे भीतर तुम्हारे प्रति हितका भाव है, इसलिये मैं वह विज्ञानसहित ज्ञान पुनः कहूँगा, जो मैंने सातवें और नवें अध्यायमें कहा है। इससे सिद्ध होता है कि सातवाँ, नवाँ और दसवाँ—तीनों अध्यायोंमें भगवान्ने प्राणिमात्रके हितकी कामनासे अपने हृदयकी बात कही है!

सम्बन्ध—परम वचनके विषयमें, जिसे मैं आगे कहूँगा, मेरे सिवाय पूरा-पूरा बतानेवाला अन्य कोई नहीं मिल सकता। इसका कारण क्या है? इसे भगवान् आगेके श्लोकमें बताते हैं।

**न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥**

मे	= मेरे	(और)	सर्वशः	= सब प्रकारसे
प्रभवम्	= प्रकट होनेको	न	देवानाम्	= देवताओंका
न	= न	महर्षयः	च	= और
सुरगणाः	= देवता	हि	महर्षीणाम्	= महर्षियोंका
विदुः	= जानते हैं	अहम्	आदिः	= आदि हूँ।

व्याख्या—‘न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः’—यद्यपि देवताओंके शरीर, बुद्धि, लोक, सामग्री आदि सब दिव्य हैं, तथापि वे मेरे प्रकट होनेको नहीं जानते। तात्पर्य है कि मेरा जो विश्वरूपसे प्रकट होना है, मत्स्य, कच्छप आदि अवताररूपसे प्रकट होना है, सृष्टिमें क्रिया, भाव और विभूतिरूपसे प्रकट होना है, ऐसे मेरे प्रकट होनेके उद्देश्यको, लक्ष्यको, हेतुओंको देवता भी पूरा-पूरा नहीं जानते। मेरे प्रकट होनेको पूरा-पूरा जानना तो दूर रहा, उनको तो मेरे दर्शन भी बड़ी कठिनतासे होते हैं। इसलिये वे मेरे दर्शनके लिये हरदम लालायित रहते हैं (गीता—ग्यारहवें अध्यायके बावनवें श्लोकमें)।

ऐसे ही जिन महर्षियोंने अनेक ऋचाओंको, मन्त्रोंको,

विद्याओंको, विलक्षण-विलक्षण शक्तियोंको प्रकट किया है, जो संसारसे ऊँचे उठे हुए हैं, जो दिव्य अनुभवसे युक्त हैं, जिनके लिये कुछ करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहा है, ऐसे तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महर्षि लोग भी मेरे प्रकट होनेको अर्थात् मेरे अवतारोंको, अनेक प्रकारकी लीलाओंको, मेरे महत्त्वको पूरा-पूरा नहीं जानते।

यहाँ भगवान्ने देवता और महर्षि—इन दोनोंका नाम लिया है। इसमें ऐसा मालूम देता है कि ऊँचे पदकी दृष्टिसे देवताका नाम और ज्ञानकी दृष्टिसे महर्षिका नाम लिया गया है। इन दोनोंका मेरे प्रकट होनेको न जाननेमें कारण यह है कि मैं देवताओं और महर्षियोंका सब प्रकारसे आदि हूँ—‘अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।’ उनमें जो

१-न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः ॥

परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया। (महाभारत, आश्व० १६। १२-१३)

‘(भगवान् अर्जुनसे बोले—) वह सब-का-सब उसी रूपमें फिर दुहरा देना अब मेरे वशकी बात नहीं है। उस समय योगयुक्त होकर ही मैंने परमात्मतत्त्वका वर्णन किया था।’

२-ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत। (श्रीमद्भा० १। १। ८; १०। १३। ३)

‘गुरुजन’ अपने प्रेमी शिष्यको गुप्त-से-गुप्त बात भी बतला दिया करते हैं।’

गूढ़तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं ॥ (मानस, बाल० ११०। १)

कुछ बुद्धि है, शक्ति है, सामर्थ्य है, पद है, प्रभाव है, महता है, वह सब उन्होंने मेरेसे ही प्राप्त की है। अतः मेरेसे प्राप्त किये हुए प्रभाव, शक्ति, सामर्थ्य आदिसे वे मेरेको पूरा कैसे जान सकते हैं? अर्थात् नहीं जान सकते। जैसे बालक जिस माँसे पैदा हुआ है, उस माँके विवाहको और अपने शरीरके पैदा होनेको नहीं जानता, ऐसे ही देवता और महर्षि मेरेसे ही प्रकट हुए हैं; अतः वे मेरे प्रकट होनेको और अपने कारणको नहीं जानते। कार्य अपने कारणमें लीन तो हो सकता है, पर उसको जान नहीं सकता। ऐसे ही देवता और महर्षि मेरेसे उत्पन्न होनेसे, मेरा कार्य होनेसे कारणरूप मेरेको नहीं जान सकते, प्रत्युत मेरेमें लीन हो सकते हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि देवता और महर्षि भगवान्के आदिको, अन्तको और वर्तमानकी इयत्ताको अर्थात् भगवान् ऐसे ही हैं, इतने ही अवतार लेते हैं—इस माप-

परिशिष्ट भाव—सातवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्ने 'मनुष्याणां सहस्रेषु०' पदोंसे जो बात कही थी, वह यहाँ 'न मे विदुः०' पदोंसे कहते हैं। वे भगवान्को क्यों नहीं जानते—इसका हेतु बताते हैं कि मैं सब तरहसे देवताओं और महर्षियोंका आदि हूँ। सातवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने कहा है कि भूत, भविष्य और वर्तमानके सब प्राणियोंको मैं जानता हूँ, पर मेरेको कोई नहीं जानता। इसलिये अर्जुनने भी आगे चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकमें कहा है कि आपको न देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं, प्रत्युत आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं।

इस श्लोकमें भगवान्ने 'राजगुह्य' बात कही है। भगवान् विद्या, बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य आदिसे जाननेमें नहीं आते, प्रत्युत जिज्ञासुके श्रद्धा-विश्वाससे एवं भगवत्कृपासे ही जाननेमें आते हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें कहा गया कि देवता और महर्षिलोग भी भगवान्के प्रकट होनेको सर्वथा नहीं जान सकते, तो फिर मनुष्य भगवान्को कैसे जानेगा और उसका कल्याण कैसे होगा? इसका उपाय आगेके श्लोकमें बताते हैं।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।

असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

यः	= जो (मनुष्य)	वेत्ति	महान् ईश्वर	मर्त्येषु	= मनुष्योंमें
माम्	= मुझे		= जानता है अर्थात्	असम्मूढः	= ज्ञानवान् है
अजम्	= अजन्मा,		दृढ़तासे (सन्देहरहित)		(और)
अनादिम्	= अनादि		स्वीकार कर	सर्वपापैः	= (वह) सम्पूर्ण
च	= और		लेता है,		पापोंसे
लोकमहेश्वरम्	= सम्पूर्ण लोकोंका	सः	= वह	प्रमुच्यते	= मुक्त हो जाता है।

व्याख्या—'यो मामजमनादिं च वेत्ति लोक-महेश्वरम्'—पीछेके श्लोकमें भगवान्के प्रकट होनेको जाननेका विषय नहीं बताया है। इस विषयको तो मनुष्य भी नहीं जानता, पर जितना जाननेसे मनुष्य अपना कल्याण कर ले, उतना तो वह जान ही सकता है। वह जानना

तौलको नहीं जान सकते। कारण कि इन देवताओं और महर्षियोंके प्रकट होनेसे पहले भी भगवान् ज्यों-के-त्यों ही थे और उनके लीन होनेपर भी भगवान् ज्यों-के-त्यों ही रहेंगे। अतः जिनके शरीरोंका आदि और अन्त होता रहता है, वे देवता और महर्षि अनादि-अनन्तको अर्थात् असीम परमात्माको अपनी सीमित बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य आदिके द्वारा कैसे जान सकते हैं? असीमको अपनी सीमित बुद्धिके अन्तर्गत कैसे ला सकते हैं? अर्थात् नहीं ला सकते।

इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें अर्जुनने भी भगवान्से कहा है कि आपको देवता और दानव नहीं जानते; क्योंकि देवताओंके पास भोग-सामग्रीकी और दानवोंके पास माया-शक्तिकी अधिकता है। तात्पर्य है कि भोगोंमें लगे रहनेसे देवताओंको (मेरेको जाननेके लिये) समय ही नहीं मिलता और माया-शक्तिसे छल-कपट करनेसे दानव मेरेको जान ही नहीं सकते।

अर्थात् मानना यह है कि भगवान् अज अर्थात् जन्मरहित हैं। वे अनादि हैं अर्थात् यह जो काल कहा जाता है, जिसमें आदि-अनादि शब्दोंका प्रयोग होता है, भगवान् उस कालके भी काल हैं। उन कालातीत भगवान्में कालका भी आदि और अन्त हो जाता है। भगवान् सम्पूर्ण लोकोंके

महान् ईश्वर हैं अर्थात् स्वर्ग, पृथ्वी और पातालरूप जो त्रिलोकी है तथा उस त्रिलोकीमें जितने प्राणी हैं और उन प्राणियोंपर शासन करनेवाले (अलग-अलग अधिकार-प्राप्त) जितने ईश्वर (मालिक) हैं, उन सब ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर भगवान् हैं। इस प्रकार जाननेसे अर्थात् श्रद्धा-विश्वासपूर्वक दृढ़तासे माननेसे मनुष्यको भगवान्के अज, अविनाशी और लोकमहेश्वर होनेमें कभी किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं होता।

‘असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते’— भगवान्को अज, अविनाशी और लोकमहेश्वर जाननेसे मनुष्य पापोंसे मुक्त कैसे होगा? भगवान् जन्मरहित हैं, नाशरहित हैं अर्थात् उनमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। वे अजन्मा तथा अविनाशी रहते हुए ही सबके महान् ईश्वर हैं। वे सब देशमें रहनेके नाते यहाँ भी हैं, सब समयमें होनेके नाते अभी भी हैं, सबके होनेके नाते मेरे भी हैं और सबके मालिक होनेके नाते मेरे अकेलेके भी मालिक हैं—इस प्रकार दृढ़तासे मान ले। इसमें सन्देहकी गन्ध भी न रहे। साथ-ही-साथ, यह जो क्षणभंगुर संसार है, जिसका प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है और जिसको जिस क्षणमें जिस रूपमें देखा है, उसको दूसरे क्षणमें उस रूपमें दुबारा कोई भी देख नहीं सकता; क्योंकि वह दूसरे क्षणमें वैसा रहता ही नहीं—इस प्रकार संसारको यथार्थरूपसे जान ले। जिसने अपनेसहित सारे

संसारके मालिक भगवान्को दृढ़तासे मान लिया है और संसारकी क्षणभंगुरताको तत्त्वसे ठीक जान लिया है, उसका संसारमें ‘मैं’ और ‘मेरा’-पन रह ही नहीं सकता; प्रत्युत एकमात्र भगवान्में ही अपनापन हो जाता है। तो फिर वह पापोंसे मुक्त नहीं होगा, तो और क्या होगा? ऐसा मूढ़तारहित मनुष्य ही भगवान्को तत्त्वसे अज, अविनाशी और लोकमहेश्वर जानता है और वही सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। उसके क्रियमाण, संचित आदि सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। मनुष्यको इस वास्तविकताका अनुभव करनेकी आवश्यकता है, केवल तोतेकी तरह सीखनेकी आवश्यकता नहीं। तोतेकी तरह सीखा हुआ ज्ञान पूरा काम नहीं देता।

असम्मूढ़ता क्या है? संसार (शरीर) किसीके भी साथ कभी रह नहीं सकता तथा कोई भी संसारके साथ कभी रह नहीं सकता और परमात्मा किसीसे भी कभी अलग हो नहीं सकते और कोई भी परमात्मासे कभी अलग हो नहीं सकता—यह वास्तविकता है। इस वास्तविकताको न जानना ही सम्मूढ़ता है और इसको यथार्थ जानना ही असम्मूढ़ता है। यह असम्मूढ़ता जिसमें रहती है, वह मनुष्य असम्मूढ़ कहा जाता है। ऐसा असम्मूढ़ पुरुष मेरे सगुण-निर्गुण, साकार-निराकाररूपको तत्त्वसे जान लेता है, तो उसे मेरी लीला, रहस्य, प्रभाव, ऐश्वर्य आदिमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं रहता।

परिशिष्ट भाव—नवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भगवान्ने व्यतिरेकरीतिसे कहा कि जो मेरेको नहीं जानता, उसका पतन हो जाता है और यहाँ अन्वयरीतिसे कहते हैं कि जो मेरेको जानता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है।

यहाँ **‘वेत्ति’** का अर्थ है—दृढ़तापूर्वक, सन्देहरहित स्वीकार कर लेना; क्योंकि भगवान्को इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जान नहीं सकते (गीता—दसवें अध्यायका दूसरा श्लोक)। अतः भगवान् जाननेका विषय नहीं हैं, प्रत्युत मानने और अनुभव करनेका विषय हैं। जाननेका विषय खुद प्रकृति भी नहीं है; फिर प्रकृतिसे अतीत भगवान् जाननेका विषय कैसे हो सकते हैं। अनुभव करनेका तात्पर्य है—अपनेको भगवान्में लीन कर देना, भगवान्से अभिन्न हो जाना। भगवान्से अभिन्न होकर ही भगवान्को जान सकते हैं; क्योंकि वास्तवमें अभिन्न ही हैं। (इसी तरह संसारसे अलग होकर ही संसारको जान सकते हैं; क्योंकि वास्तवमें अलग ही हैं।)

महर्षिगण भगवान्के आदिको तो नहीं जान सकते, पर वे भगवान्को अज-अनादि तो जानते ही हैं। भगवान्का अंश होनेसे जीव भी अज-अनादि है। अतः वह भगवान्को अज-अनादि जानेगा तो अपनेको भी वैसा ही (अज-अनादि) जानेगा; क्योंकि जीव भगवान्से अभिन्न होकर ही भगवान्को जानता है। अपनेको अज-अनादि जाननेपर वह मूढ़तारहित हो जाता है, फिर उसमें पाप कैसे रहेंगे? क्योंकि पाप तो पीछे पैदा हुए हैं, अज-अनादि पहलेसे है। **‘सर्वपापैः प्रमुच्यते’** का तात्पर्य है—गुणोंके संगसे रहित होना। गुणोंका संग रहते हुए मनुष्य पापोंसे मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि गुणोंका संग पापोंका मूल कारण है।

आगे चौथेसे छठे श्लोकतक असम्मूढ़ताका ही विवेचन हुआ है, जिसमें भगवान्ने अपनेको सबका ‘आदि’ बताया है। भगवान् स्वयं ‘अनादि’ हैं और भावोंके तथा महर्षियोंके ‘आदि’ हैं।

सम्बन्ध—पहले श्लोकमें भगवान्ने जिस परम वचनको सुननेकी आज्ञा दी थी, उसको अब आगेके तीन श्लोकोंमें बताते हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

बुद्धिः	= बुद्धि,	भवः	= उत्पत्ति,	यशः	= यश
ज्ञानम्	= ज्ञान,	अभावः	= विनाश,	च	= और
असम्मोहः	= असम्मोह,	भयम्	= भय,	अयशः	= अपयश—
क्षमा	= क्षमा,	अभयम्	= अभय	भूतानाम्	= प्राणियोंके (ये)
सत्यम्	= सत्य,	च	= और	पृथग्विधाः	= अनेक प्रकारके अलग-अलग
दमः	= दम,	अहिंसा	= अहिंसा,	भावाः	= (बीस) भाव
शमः	= शम	समता	= समता,	मत्तः	= मुझसे
एव	= तथा	तुष्टिः	= सन्तोष,	एव	= ही
सुखम्	= सुख,	तपः	= तप,	भवन्ति	= होते हैं।
दुःखम्	= दुःख,	दानम्	= दान,		

व्याख्या—‘बुद्धिः’—उद्देश्यको लेकर निश्चय करने-वाली वृत्तिका नाम ‘बुद्धि’ है।

‘ज्ञानम्’—सार-असार, ग्राह्य-अग्राह्य, नित्य-अनित्य, सत्-असत्, उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्य—ऐसा जो विवेक अर्थात् अलग-अलग जानकारी है, उसका नाम ‘ज्ञान’ है। यह ज्ञान (विवेक) मानवमात्रको भगवान्से मिला है।

‘असम्मोहः’—शरीर और संसारको उत्पत्ति-विनाशशील जानते हुए भी उनमें ‘मैं’ और ‘मेरा’-पन करनेका नाम सम्मोह है और इसके न होनेका नाम ‘असम्मोह’ है।

‘क्षमा’—कोई हमारे प्रति कितना ही बड़ा अपराध करे, अपनी सामर्थ्य रहते हुए भी उसे सह लेना और उस अपराधीको अपनी तथा ईश्वरकी तरफसे यहाँ और परलोकमें कहीं भी दण्ड न मिले—ऐसा विचार करनेका नाम ‘क्षमा’ है।

‘सत्यम्’—सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिये सत्यभाषण करना अर्थात् जैसा सुना, देखा और समझा है, उसीके अनुसार अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये न ज्यादा, न कम—वैसा-का-वैसा

कह देनेका नाम ‘सत्य’ है।

‘दमः शमः’—परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखते हुए इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंसे हटाकर अपने वशमें करनेका नाम ‘दम’ है, और मनको सांसारिक भोगोंके चिन्तनसे हटानेका नाम ‘शम’ है।

‘सुखं दुःखम्’—शरीर, मन, इन्द्रियोंके अनुकूल परिस्थितिके प्राप्त होनेपर हृदयमें जो प्रसन्नता होती है, उसका नाम ‘सुख’ है और प्रतिकूल परिस्थितिके प्राप्त होनेपर हृदयमें जो अप्रसन्नता होती है, उसका नाम ‘दुःख’ है।

‘भवोऽभावः’—सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, भाव आदिके उत्पन्न होनेका नाम ‘भव’ है और इन सबके लीन होनेका नाम ‘अभाव’ है।

‘भयं चाभयमेव च’—अपने आचरण, भाव आदि शास्त्र और लोक-मर्यादाके विरुद्ध होनेसे अन्तःकरणमें अपना अनिष्ट होनेकी जो एक आशंका होती है, उसको ‘भय’ कहते हैं। मनुष्यके आचरण, भाव आदि अच्छे हैं, वह किसीको कष्ट नहीं पहुँचाता, शास्त्र और सन्तोंके सिद्धान्तसे विरुद्ध कोई आचरण नहीं करता, तो उसके हृदयमें अपना अनिष्ट होनेकी आशंका नहीं रहती अर्थात्

उसको किसीसे भय नहीं होता। इसीको 'अभय' कहते हैं।

'अहिंसा'—अपने तन, मन और वचनसे किसी भी देश, काल, परिस्थिति आदिमें किसी भी प्राणीको किंचिन्मात्र भी दुःख न देनेका नाम 'अहिंसा' है।

'समता'—तरह-तरहकी अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिके प्राप्त होनेपर भी अपने अन्तःकरणमें कोई विषमता न आनेका नाम 'समता' है।

'तुष्टिः'—आवश्यकता ज्यादा रहनेपर भी कम मिले तो उसमें सन्तोष करना तथा और मिले—ऐसी इच्छाका न रहना 'तुष्टि' है। तात्पर्य है कि मिले अथवा न मिले, कम मिले अथवा ज्यादा मिले आदि हर हालतमें प्रसन्न रहना 'तुष्टि' है।

'तपः'—अपने कर्तव्यका पालन करते हुए जो कुछ कष्ट आ जाय, प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय, उन सबको प्रसन्नतापूर्वक सहनेका नाम 'तप' है। एकादशी-व्रत आदि करनेका नाम भी तप है।

'दानम्'—प्रत्युपकार और फलकी किंचिन्मात्र भी इच्छा न रखकर प्रसन्नतापूर्वक अपनी शुद्ध कमाईका हिस्सा सत्पात्रको देनेका नाम 'दान' है (गीता—सत्रहवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक)।

'यशोऽयशः'—मनुष्यके अच्छे आचरणों, भावों और गुणोंको लेकर संसारमें जो नामकी प्रसिद्धि, प्रशंसा आदि होते हैं, उनका नाम 'यश' है। मनुष्यके बुरे आचरणों, भावों और गुणोंको लेकर संसारमें जो नामकी निन्दा होती है, उसको 'अयश' (अपयश) कहते हैं।

'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः'—प्राणियोंके ये पृथक्-पृथक् और अनेक तरहके भाव मेरेसे ही होते हैं अर्थात् उन सबको सत्ता, स्फूर्ति, शक्ति, आधार और प्रकाश मुझ लोकमहेश्वरसे ही मिलता है। तात्पर्य है कि तत्त्वसे सबके मूलमें मैं ही हूँ।

यहाँ 'मत्तः' पदसे भगवान्का योग, सामर्थ्य, प्रभाव और 'पृथग्विधाः' पदसे अनेक प्रकारकी अलग-अलग विभूतियाँ जाननी चाहिये।

संसारमें जो कुछ विहित तथा निषिद्ध हो रहा है; शुभ तथा अशुभ हो रहा है और संसारमें जितने सद्भाव तथा दुर्भाव हैं, वह सब-की-सब भगवान्की लीला है—इस प्रकार भक्त भगवान्को तत्त्वसे समझ लेता है तो उसका भगवान्में अविक्कम्प (अविचल) योग हो जाता है (गीता—दसवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)।

यहाँ प्राणियोंके जो बीस भाव बताये गये हैं, उनमें बारह भाव तो एक-एक (अकेले) हैं और वे सभी अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेवाले हैं और भयके साथ आया हुआ अभय भी अन्तःकरणमें पैदा होनेवाला भाव है तथा बचे हुए सात भाव परस्परविरोधी हैं। उनमेंसे भव (उत्पत्ति), अभाव, यश और अयश—ये चार तो प्राणियोंके पूर्वकृत कर्मके फल हैं और सुख, दुःख तथा भय—ये तीन मूर्खताके फल हैं। इस मूर्खताको मनुष्य मिटा सकता है।

यहाँ प्राणियोंके बीस भावोंको अपनेसे पैदा हुए और अपनी विभूति बतानेमें भगवान्का तात्पर्य है कि ये बीस भाव तो पृथक्-पृथक् हैं, पर इन सब भावोंका आधार मैं एक ही हूँ। इन सबके मूलमें मैं ही हूँ, ये सभी मेरेसे ही होते हैं एवं मेरेसे ही सत्ता-स्फूर्ति पाते हैं। सातवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें भी भगवान्ने 'मत्त एव' पदोंसे बताया है कि सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही होते हैं अर्थात् उनके मूलमें मैं ही हूँ, वे मेरेसे ही होते हैं और मेरेसे ही सत्ता-स्फूर्ति पाते हैं। अतः यहाँ भी भगवान्का आशय विभूतियोंके मूल तत्त्वकी तरफ साधककी दृष्टि करानेमें ही है।

विशेष बात

साधक संसारको कैसे देखे? ऐसे देखे कि संसारमें जो कुछ क्रिया, पदार्थ, घटना आदि है, वह सब भगवान्का रूप है। चाहे उत्पत्ति हो, चाहे प्रलय हो; चाहे अनुकूलता हो, चाहे प्रतिकूलता हो; चाहे अमृत हो, चाहे मृत्यु हो; चाहे स्वर्ग हो, चाहे नरक हो; यह सब भगवान्की लीला है। भगवान्की लीलामें बालकाण्ड भी है, अयोध्याकाण्ड भी है, अरण्यकाण्ड भी है और लंकाकाण्ड भी है। पुरियोंमें देखा जाय तो अयोध्यापुरीमें भगवान्का प्राकट्य है; राजा, रानी और प्रजाका वात्सल्यभाव है। जनकपुरीमें रामजीके प्रति राजा जनक, महारानी सुनयना और प्रजाके विलक्षण-विलक्षण भाव हैं। वे रामजीको दामादरूपसे खिलते हैं, खेलाते हैं, विनोद करते हैं। वनमें (अरण्यकाण्डमें) भक्तोंका मिलना भी है और राक्षसोंका मिलना भी। लंकापुरीमें युद्ध होता है, मार-काट होती है, खूनकी नदियाँ बहती हैं। इस तरह अलग-अलग पुरियोंमें, अलग-अलग काण्डोंमें भगवान्की तरह-तरहकी लीलाएँ होती हैं। परन्तु तरह-तरहकी लीलाएँ होते हुए भी रामायण एक है और ये

सभी लीलाएँ एक ही रामायणके अंग हैं तथा इन अंगोंसे रामायण सांगोपांग होती है। ऐसे ही संसारमें प्राणियोंके तरह-तरहके भाव हैं, क्रियाएँ हैं। कहींपर कोई हँस रहा है तो कहींपर कोई रो रहा है, कहींपर विद्वद्गोष्ठी हो रही है तो कहींपर आपसमें लड़ाई हो रही है, कोई जन्म ले

रहा है तो कोई मर रहा है, आदि-आदि जो विविध भाँतिकी चेष्टाएँ हो रही हैं, वे सब भगवान्की लीलाएँ हैं। लीलाएँ करनेवाले ये सब भगवान्के रूप हैं। इस प्रकार भक्तकी दृष्टि हरदम भगवान्पर ही रहनी चाहिये; क्योंकि इन सबके मूलमें एक परमात्मतत्त्व ही है।

परिशिष्ट भाव—ज्ञानकी दृष्टिसे तो सभी भाव प्रकृतिसे होते हैं, पर भक्तिकी दृष्टिसे सभी भाव भगवान्से होते हैं। अगर इन भावोंको जीवका मानें तो जीव भी भगवान्की ही परा प्रकृति होनेसे भगवान्से अभिन्न है; अतः ये भाव भगवान्के ही हुए। भगवान्में तो ये भाव निरन्तर रहते हैं, पर जीवमें अपराके संगसे आते-जाते रहते हैं। भगवान्से उत्पन्न होनेके कारण सभी भाव भगवत्स्वरूप ही हैं।

‘पृथग्विधाः’ कहनेका तात्पर्य है कि जैसे हाथ एक ही होता है, पर उसमें अँगुलियाँ अलग-अलग होती हैं, ऐसे ही भगवान् एक ही हैं, पर उनसे प्रकट होनेवाले भाव अलग-अलग हैं। एक ही भगवान्में अनेक प्रकारके परस्परविरुद्ध भाव एक साथ रहते हैं!

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

सप्त	= सात	मनवः	= चौदह मनु (—ये सब-के-सब)	येषाम्	= जिनकी
महर्षयः	= महर्षि (और)	मानसाः	= (मेरे) मनसे	लोके	= संसारमें
पूर्वे	= उनसे भी पहले होनेवाले	जाताः	= पैदा हुए हैं (और)	इमाः	= यह
चत्वारः	= चार सनकादि	मद्भावाः	= मुझमें भाव (श्रद्धा-भक्ति) रखनेवाले हैं,	प्रजाः	= सम्पूर्ण प्रजा है।
तथा	= तथा				

व्याख्या—[पीछेके दो श्लोकोंमें भगवान्ने प्राणियोंके भाव-रूपसे बीस विभूतियाँ बतायीं। अब इस श्लोकमें व्यक्ति-रूपसे पचीस विभूतियाँ बता रहे हैं, जो कि प्राणियोंमें विशेष प्रभावशाली और जगत्की कारण हैं।]

‘महर्षयः सप्त’—जो दीर्घ आयुवाले; मन्त्रोंको प्रकट करनेवाले; ऐश्वर्यवान्; दिव्य दृष्टिवाले; गुण, विद्या आदिसे वृद्ध; धर्मका साक्षात् करनेवाले और गोत्रोंके प्रवर्तक हैं—ऐसे सातों गुणोंसे युक्त ऋषि सप्तर्षि कहे जाते हैं^१। मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों ऋषि उपर्युक्त सातों ही गुणोंसे युक्त हैं। ये सातों ही वेदवेत्ता हैं, वेदोंके आचार्य माने गये हैं, प्रवृत्ति-

धर्मका संचालन करनेवाले हैं और प्रजापतिके कार्यमें नियुक्त किये गये हैं^२। इन्हीं सात ऋषियोंको यहाँ ‘महर्षि’ कहा गया है।

‘पूर्वे चत्वारः’—सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—ये चारों ही ब्रह्माजीके तप करनेपर सबसे पहले प्रकट हुए हैं। ये चारों भगवत्स्वरूप हैं। सबसे पहले प्रकट होनेपर भी ये चारों सदा पाँच वर्षकी अवस्थावाले बालकरूपमें ही रहते हैं। ये तीनों लोकोंमें भक्ति, ज्ञान और वैराग्यका प्रचार करते हुए घूमते रहते हैं। इनकी वाणीसे सदा ‘हरिः शरणम्’ का उच्चारण होता रहता है^३। ये भगवत्कथाके बहुत प्रेमी हैं। अतः इन चारोंमेंसे एक वक्ता

१-सप्तैते सप्तभिश्चैव गुणैः सप्तर्षयः स्मृताः ॥

दीर्घायुषो मन्त्रकृत ईश्वरो दिव्यचक्षुषः। वृद्धाः प्रत्यक्षधर्माणो गोत्रप्रवर्तकाश्च ये ॥ (वायुपुराण ६१।१३-१४)

२-मरीचिरंगिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ॥

एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः। प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः ॥

(महा०, शान्तिपर्व० ३४७। ६९-७०)

३-हरिः शरणमेवं हि नित्यं येषां मुखे वचः। (पद्मपुराणोक्त श्रीमद्भागवत-माहात्म्य २। ४८)

और तीन श्रोता बनकर भगवत्कथा करते और सुनते रहते हैं।

‘मनवस्तथा’—ब्रह्माजीके एक दिन-(कल्प-) में चौदह मनु होते हैं। ब्रह्माजीके वर्तमान कल्पके स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सार्वणि, दक्षसार्वणि, ब्रह्मसार्वणि, धर्मसार्वणि, रुद्रसार्वणि, देवसार्वणि और इन्द्रसार्वणि नामवाले चौदह मनु हैं*। ये सभी ब्रह्माजीकी आज्ञासे सृष्टिके उत्पादक और प्रवर्तक हैं।

‘मानसा जाताः’—मात्र सृष्टि भगवान्के संकल्पसे पैदा होती है। परन्तु यहाँ सप्तर्षि आदिको भगवान्के मनसे पैदा हुआ कहा है। इसका कारण यह है कि सृष्टिका विस्तार करनेवाले होनेसे सृष्टिमें इनकी प्रधानता है। दूसरा कारण यह है कि ये सभी ब्रह्माजीके मनसे अर्थात् संकल्पसे पैदा हुए हैं। स्वयं भगवान् ही सृष्टि-रचनाके लिये ब्रह्मारूपसे प्रकट हुए हैं। अतः सात महर्षि, चार सनकादि और चौदह मनु—इन पचीसोंको ब्रह्माजीके मानसपुत्र कहें अथवा भगवान्के मानसपुत्र कहें, एक ही

परिशिष्ट भाव—सात महर्षि, चार सनकादि तथा चौदह मनु—ये सब भगवान्के मनसे पैदा होनेके कारण भगवान्से अभिन्न हैं।

बात है।

‘मद्भावाः’—ये सभी मेरेमें ही भाव अर्थात् श्रद्धा-प्रेम रखनेवाले हैं।

‘येषां लोकमिमाः प्रजाः’—संसारमें दो तरहकी प्रजा है—स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली और शब्दसे (दीक्षा, मन्त्र, उपदेश आदिसे) उत्पन्न होनेवाली। संयोगसे उत्पन्न होनेवाली प्रजा ‘बिन्दुज’ कहलाती है और शब्दसे उत्पन्न होनेवाली प्रजा ‘नादज’ कहलाती है। बिन्दुज प्रजा पुत्र-परम्परासे और नादज प्रजा शिष्य-परम्परासे चलती है।

सप्तर्षियों और चौदह मनुओंने तो विवाह किया था; अतः उनसे उत्पन्न होनेवाली प्रजा ‘बिन्दुज’ है। परन्तु सनकादिकोंने विवाह किया ही नहीं; अतः उनसे उपदेश प्राप्त करके पारमार्थिक मार्गमें लगनेवाली प्रजा ‘नादज’ है। निवृत्तिपरायण होनेवाले जितने सन्त-महापुरुष पहले हुए हैं, अभी हैं और आगे होंगे, वे सब उपलक्षणसे उनकी ही नादज प्रजा हैं।

सम्बन्ध—चौथेसे छठे श्लोकतक प्राणियोंके भावों तथा व्यक्तियोंके रूपमें अपनी विभूतियोंका और अपने योग- (प्रभाव-) का वर्णन करके अब भगवान् आगेके श्लोकमें उनको तत्त्वसे जाननेका फल बताते हैं।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

यः	= जो मनुष्य	तत्त्वतः	= तत्त्वसे	अविकम्पेन	= अविचल
मम	= मेरी	वेत्ति	= जानता है अर्थात्	योगेन	= भक्तियोगसे
एताम्	= इस		दृढ़तापूर्वक (सन्देह-	युज्यते	= युक्त हो जाता है;
विभूतिम्	= विभूतिको		रहित) स्वीकार कर	अत्र	= इसमें (कुछ भी)
च	= और		लेता है,	संशयः	= संशय
योगम्	= योग-(सामर्थ्य-)को	सः	= वह	न	= नहीं है।

व्याख्या—‘एतां विभूतिं योगं च मम’—‘एताम्’ सर्वनाम अत्यन्त समीपका लक्ष्य कराता है। यहाँ यह शब्द चौथेसे छठे श्लोकतक कही हुई विभूति और योगका लक्ष्य कराता है।

‘विभूति’ नाम भगवान्के ऐश्वर्यका है और ‘योग’ नाम भगवान्की अलौकिक विलक्षण शक्ति, अनन्त सामर्थ्यका है। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्की शक्तिका नाम ‘योग’ है और उस योगसे प्रकट होनेवाली विशेषताओंका नाम

* (श्रीमद्भागवतके आठवें स्कन्धके पहले, पाँचवें और तेरहवें अध्यायमें इनका विस्तारसे वर्णन आया है।)

ब्रह्माजीका एक दिन एक हजार चतुर्युगीका होता है। उसमें एक मनुका राज्य इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ ज्यादा समयका माना गया है। इस समय ब्रह्माजीकी आयुका इक्यावनवाँ वर्ष चल रहा है और इसमें सातवें मनु ‘वैवस्वत’का राज्य चल रहा है।

‘विभूति’ है। चौथेसे छठे श्लोकतक कही हुई भाव और व्यक्तिके रूपमें जितनी विभूतियाँ हैं, वे तो भगवान्‌के सामर्थ्यसे, प्रभावसे प्रकट हुई विशेषताएँ हैं और ‘मेरेसे पैदा होते हैं’ (‘मत्तः’; ‘मानसा जाताः’)—यह भगवान्‌का योग है, प्रभाव है। इसीको नवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें ‘पश्य मे योगमैश्वरम्’ (मेरे इस ईश्वरीय योगको देख) पदोंसे कहा गया है। ऐसे ही आगे ग्यारहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें अर्जुनको विश्वरूप दिखाते समय भगवान्‌ने ‘पश्य मे योगमैश्वरम्’ पदोंसे अपना ऐश्वर्यमय योग देखनेके लिये कहा है।

विशेष बात

जब मनुष्य भोग-बुद्धिसे भोग भोगता है, भोगोंसे सुख लेता है, तब अपनी शक्तिका ह्रास और भोग्य वस्तुका विनाश होता है। इस प्रकार दोनों तरफसे हानि होती है। परन्तु जब वह भोगोंको भोगबुद्धिसे नहीं भोगता अर्थात् उसके भीतर भोग भोगनेकी किंचिन्मात्र भी लालसा उत्पन्न नहीं होती, तब उसकी शक्तिका ह्रास नहीं होता। उसकी शक्ति, सामर्थ्य निरन्तर बनी रहती है।

वास्तवमें भोगोंके भोगनेमें सुख नहीं है। सुख है—भोगोंके संयममें। यह संयम दो तरहका होता है—(१) दूसरोंपर शासनरूप संयम और (२) अपनेपर शासनरूप संयम। दूसरोंपर शासनरूप संयमका तात्पर्य है—‘दूसरोंका दुःख मिट जाय और वे सुखी हो जायँ’—इस भावसे दूसरोंको उन्मार्गसे बचाकर सन्मार्गपर लगाना। अपनेपर शासनरूप संयमका तात्पर्य है—‘अपने स्वार्थ तथा अभिमानका त्याग करना और स्वयं किंचिन्मात्र भी सुख न भोगना।’ इन्हीं दोनों संयमोंका नाम ‘योग’ अथवा ‘प्रभाव’ है। ऐसा योग अथवा प्रभाव सर्वोपरि परमात्मामें स्वतः-स्वाभाविक होता है। दूसरोंमें यह साधन-साध्य होता है।

स्वार्थ और अभिमानपूर्वक दूसरोंपर शासन करनेसे, अपना हुक्म चलानेसे दूसरा वशमें हो जाता है तो शासन करनेवालेको एक सुख होता है। इस सुखमें शासककी शक्ति, सामर्थ्य क्षीण हो जाती है और जिसपर वह शासन करता है, वह पराधीन हो जाता है। इसलिये स्वार्थ और अभिमानपूर्वक दूसरोंपर शासन करनेकी अपेक्षा स्वार्थ और अभिमानका सर्वथा त्याग करके ‘दूसरोंका हित हो, मनुष्य नश्वर भोगोंमें न फँसें, मनुष्य अनादिकालसे अनन्त दुःखोंको भोगते आये हैं; अतः वे सदाके लिये इन दुःखोंसे

छूटकर महान् आनन्दको प्राप्त हो जायँ’—ऐसी बुद्धिसे दूसरोंपर शासन करना बहुत श्रेष्ठ और विलक्षण शासन (संयम) है। इस शासनकी आखिरी हद है—भगवान्‌का शासन अर्थात् संयमन। इसीका नाम ‘योग’ है।

‘योग’ नाम समता, सम्बन्ध और सामर्थ्यका है। जो स्थिर परमात्मतत्त्व है, उसीसे अपार सामर्थ्य आती है। कारण कि वह निर्विकार परमात्मतत्त्व महान् सामर्थ्यशाली है। उसके समान सामर्थ्य किसीमें हुई नहीं, होगी नहीं और हो सकती भी नहीं। मनुष्यमें आंशिकरूपसे वह सामर्थ्य निष्काम होनेसे आती है। कारण कि कामना होनेसे शक्तिका क्षय होता है और निष्काम होनेसे शक्तिका संचय होता है।

आदमी काम करते-करते थक जाता है तो विश्राम करनेसे फिर काम करनेकी शक्ति आ जाती है, बोलते-बोलते थक जाता है तो चुप होनेसे फिर बोलनेकी शक्ति आ जाती है। जीते-जीते आदमी मर जाता है तो फिर जीनेकी शक्ति आ जाती है। सर्गमें शक्ति क्षीण होती है और प्रलयमें शक्तिका संचय होता है। तात्पर्य यह हुआ कि प्रकृतिके सम्बन्धसे शक्ति क्षीण होती है और उससे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर महान् शक्ति आ जाती है।

‘यो वेत्ति तत्त्वतः’—विभूति और योगको तत्त्वसे जाननेका तात्पर्य है कि संसारमें कारणरूपसे मेरा जो कुछ प्रभाव, सामर्थ्य है और उससे कार्यरूपमें प्रकट होनेवाली जितनी विशेषताएँ हैं अर्थात् वस्तु, व्यक्ति आदिमें जो कुछ विशेषता दीखनेमें आती है, प्राणियोंके अन्तःकरणमें प्रकट होनेवाले जितने भाव हैं और प्रभावशाली व्यक्तियोंमें ज्ञान-दृष्टिसे, विवेक-दृष्टिसे तथा संसारकी उत्पत्ति और संचालनकी दृष्टिसे जो कुछ विलक्षणता है, उन सबके मूलमें मैं ही हूँ और मैं ही सबका आदि हूँ। इस प्रकार जो मेरेको समझ लेता है, तत्त्वसे ठीक मान लेता है, तो फिर वह उन सब विलक्षणताओंके मूलमें केवल मेरेको ही देखता है। उसका भाव केवल मेरेमें ही होता है, व्यक्तियों, वस्तुओंकी विशेषताओंमें नहीं। जैसे, सुनारकी दृष्टि गहनोंपर जाती है तो गहनोंके नाम, आकृति, उपयोगपर दृष्टि रहते हुए भी भीतर यह भाव रहता है कि तत्त्वसे यह सब सोना ही है। ऐसे ही जहाँ-कहीं जो कुछ भी विशेषता दीखे, उसमें दृष्टि भगवान्‌पर ही जानी चाहिये कि उसमें जो कुछ विशेषता है, वह भगवान्‌की ही है; वस्तु, व्यक्ति, क्रिया

आदिकी नहीं।

संसारमें क्रिया और पदार्थ निरन्तर परिवर्तनशील हैं। इनमें जो कुछ विशेषता दीखती है, वह स्थायीरूपसे व्यापक परमात्माकी ही है। जहाँ-जहाँ विलक्षणता, अलौकिकता आदि दीखे, वहाँ-वहाँ वस्तु, व्यक्ति आदिकी ही विलक्षणता माननेसे मनुष्य उसीमें उलझ जाता है और मिलता कुछ नहीं। कारण कि वस्तुओंमें जो विलक्षणता दीखती है, वह उस अपरिवर्तनशील परमात्मतत्त्वकी ही झलक है, परिवर्तनशील वस्तुकी नहीं। इस प्रकार उस मूल तत्त्वकी तरफ दृष्टि जाना ही उसे तत्त्वसे जानना अर्थात् श्रद्धासे दृढ़तापूर्वक मानना है।

यहाँ जो विभूतियोंका वर्णन किया गया है, इसका तात्पर्य इनमें परिपूर्णरूपसे व्यापक परमात्माके ऐश्वर्यसे है। विभूतियोंके रूपमें प्रकट होनेवाला मात्र ऐश्वर्य परमात्माका है। वह ऐश्वर्य प्रकट हुआ है परमात्माकी योगशक्तिसे। इसलिये जिस-किसीमें जहाँ-कहीं विलक्षणता दिखायी दे, वह विलक्षणता भगवान्की योगशक्तिसे प्रकट हुए ऐश्वर्य- (विभूति-) की ही है, न कि उस वस्तुकी। इस प्रकार योग और विभूति परमात्माकी हुई तथा उस योग और

विभूतिको तत्त्वसे जाननेका तात्पर्य यह हुआ कि उसमें विलक्षणता परमात्माकी है। अतः द्रष्टाकी दृष्टि केवल उस परमात्माकी तरफ ही जानी चाहिये। यही इनको तत्त्वसे जानना अर्थात् मानना है।*

‘सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते’—उसकी मेरेमें दृढ़ भक्ति हो जाती है। दृढ़ कहनेका तात्पर्य है कि उसकी मेरे सिवाय कहीं भी किंचिन्मात्र भी महत्त्वबुद्धि नहीं होती। अतः उसका आकर्षण दूसरेमें न होकर एक मेरेमें ही होता है।

‘नात्र संशयः’—इसमें कोई संदेहकी बात नहीं—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि अगर उसको कहीं भी किंचिन्-मात्र भी संदेह होता है तो उसने मेरेको तत्त्वसे नहीं माना है। कारण कि उसने मेरे योगको अर्थात् विलक्षण प्रभावको और उससे उत्पन्न होनेवाली विभूतियोंको (ऐश्वर्यको) मेरेसे अलग मानकर महत्त्व दिया है।

मेरेको तत्त्वसे जान लेनेके बाद उसके सामने लौकिक दृष्टिसे किसी तरहकी विलक्षणता आ जाय, तो वह उसपर प्रभाव नहीं डाल सकेगी। उसकी दृष्टि उस विलक्षणताकी तरफ न जाकर मेरी तरफ ही जायगी। अतः उसकी मेरेमें स्वाभाविक ही दृढ़ भक्ति होती है।

परिशिष्ट भाव—संसारमें जो कुछ विलक्षणता (विशेषता) देखनेमें आती है, वह सब भगवान्का ‘योग’ अर्थात् विलक्षण प्रभाव, सामर्थ्य है। उस विलक्षण प्रभावसे प्रकट होनेवाली विशेषता ‘विभूति’ है—इस प्रकार जो मनुष्य भगवान्की विभूति और योगको तत्त्वसे जान लेता है, उसकी भगवान्में दृढ़ भक्ति हो जाती है। एक भगवान्के सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं—ऐसा सन्देहरहित दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर लेना ही तत्त्वसे जानना है। इस प्रकार तत्त्वसे जाननेवालेको भगवान्ने ‘ज्ञानवान्’ कहा है (गीता—सातवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।

‘अविकम्प (अविचल) योग’ कहनेका तात्पर्य है कि वह भक्तियोग खुद भी नहीं हिलता और उसको कोई हिला भी नहीं सकता; क्योंकि इसमें एक भगवान्के सिवाय दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है।

जैसे रुपयोंसे सब वस्तुएँ मिल जाती हैं—ऐसा मानकर साधारण मनुष्य रुपयोंको ही महत्त्व देता है और उसका रुपयोंमें आकर्षण हो जाता है। ऐसे ही जो कुछ प्रभाव, महत्त्व दीखता है, वह सब भगवान्का ही है—ऐसा जाननेपर मनुष्यकी भगवान्में ही दृढ़ भक्ति हो जाती है।

‘नात्र संशयः’ कहनेका तात्पर्य है कि जब भगवान्के सिवाय दूसरी सत्ता ही नहीं है तो फिर इसमें संशय कैसे हो?

* भक्तिका प्रकरण होनेसे यहाँ ‘तत्त्वतः वेत्ति’ (तत्त्वतः जानना) का अर्थ ‘तत्त्वतः मानना’ ही लेना चाहिये। कारण कि यहाँ भगवान्ने ‘तत्त्वतः वेत्ति’ का फल अपनेमें दृढ़ भक्ति होना बताया है और आगेके श्लोकमें भी ‘संसारमात्रका मूल कारण मैं ही हूँ और सब संसार मेरेसे ही चेष्टा करता है’ ऐसा मानकर (इति मत्वा) भजन करनेकी बात कही है।

जैसे जानना दृढ़ होता है, ऐसे ही मानना भी दृढ़ होता है अर्थात् दृढ़ मान्यता तत्त्वज्ञानकी तरह ही फल देती है। जैसे, ‘मैं हिन्दू हूँ’ ‘मैं अमुक वर्णवाला हूँ’ आदि मान्यताओंको जबतक स्वयं नहीं छोड़ता, तबतक ये मान्यताएँ छूटती नहीं। इसी तरह ‘इन सब विभूतियोंके मूलमें भगवान् ही हैं, यह मान्यता कभी मिटती नहीं। वर्ण, सम्प्रदाय आदिकी मान्यता सच्ची नहीं है, प्रत्युत शरीरको लेकर होनेसे प्राकृत है और मिटनेवाली है। परन्तु सबके मूलमें परमात्मा हैं’ यह मान्यता सच्ची है, वास्तविक है। अतः यह मान्यता कभी मिटती नहीं, प्रत्युत ज्ञान (तत्त्वसे जानना) में परिणत होकर ज्ञानस्वरूप हो जाती है।

इसमें संशय होनेका अवकाश ही नहीं है; क्योंकि जहाँ दो सत्ता होती है, वहीं संशय होता है। एक भगवान्के सिवाय और कोई है ही नहीं तो फिर वृत्ति कहाँ जायगी, क्यों जायगी, किसमें जायगी और कैसे जायगी? इसलिये एक भगवान्में ही अविचल भक्ति हो जाती है—इसमें सन्देह नहीं है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने बताया कि मेरी विभूति और योगको तत्त्वसे जाननेवाला अविचल भक्तिसे युक्त हो जाता है। अतः विभूति और योगको तत्त्वसे जानना क्या है? इसका विवेचन आगेके श्लोकमें करते हैं।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

अहम्	= मैं	प्रवर्तते	= प्रवृत्त हो रहा है		प्रेम रखते हुए
सर्वस्य	= संसारमात्रका		अर्थात् चेष्टा कर	बुधाः	= बुद्धिमान् भक्त
प्रभवः	= प्रभव (मूल कारण)		रहा है—	माम्	= मेरा ही
	हूँ,	इति	= ऐसा	भजन्ते	= भजन करते हैं—
मत्तः	= (और) मुझसे ही	मत्वा	= मानकर		सब प्रकारसे मेरे
सर्वम्	= सारा संसार	भावसमन्विताः	= मुझमें ही श्रद्धा-		ही शरण होते हैं।

व्याख्या—[पूर्व श्लोककी बात ही इस श्लोकमें कही गयी है। 'अहं सर्वस्य प्रभवः' में 'सर्वस्य' भगवान्की विभूति है अर्थात् देखने, सुनने, समझनेमें जो कुछ आ रहा है, वह सब-की-सब भगवान्की विभूति ही है। 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' में 'मत्तः' भगवान्का योग (प्रभाव) है, जिससे सभी विभूतियाँ प्रकट होती हैं। सातवें, आठवें और नवें अध्यायमें जो कुछ कहा गया है, वह सब-का-सब इस श्लोकके पूर्वार्धमें आ गया है।]

'अहं सर्वस्य प्रभवः'—मानस, नादज, बिन्दुज, उद्भिज्ज, जरायुज, अण्डज, स्वेदज अर्थात् जड-चेतन, स्थावर-जंगम यावन्मात्र जितने प्राणी पैदा होते हैं, उन सबकी उत्पत्तिके मूलमें परमपिता परमेश्वरके रूपमें मैं ही हूँ।*

यहाँ 'प्रभव' का तात्पर्य है कि मैं सबका 'अभिन्न-निमित्तोपादानकारण' हूँ अर्थात् स्वयं मैं ही सृष्टिरूपसे प्रकट हुआ हूँ।

'मत्तः सर्वं प्रवर्तते'—संसारमें उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, पालन, संरक्षण आदि जितनी भी चेष्टाएँ होती हैं, जितने भी कार्य होते हैं, वे सब मेरेसे ही होते हैं। मूलमें उनको सत्ता-स्फूर्ति आदि जो कुछ मिलता है, वह सब मेरेसे ही मिलता है। जैसे बिजलीकी शक्तिसे सब कार्य होते हैं, ऐसे

ही संसारमें जितनी क्रियाएँ होती हैं, उन सबका मूल कारण मैं ही हूँ।

'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'—कहनेका तात्पर्य है कि साधककी दृष्टि प्राणिमात्रके भाव, आचरण, क्रिया आदिकी तरफ न जाकर उन सबके मूलमें स्थित भगवान्की तरफ ही जानी चाहिये। कार्य, कारण, भाव, क्रिया, वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति आदिके मूलमें जो तत्त्व है, उसकी तरफ ही भक्तोंकी दृष्टि रहनी चाहिये।

सातवें अध्यायके सातवें तथा बारहवें श्लोकमें और दसवें अध्यायके पाँचवें और इस (आठवें) श्लोकमें 'मत्तः' पद बार-बार कहनेका तात्पर्य है कि ये भाव, क्रिया, व्यक्ति आदि सब भगवान्से ही पैदा होते हैं, भगवान्में ही स्थित रहते हैं और भगवान्में लीन हो जाते हैं। अतः तत्त्वसे सब कुछ भगवत्स्वरूप ही है—इस बातको जान लें अथवा मान लें, तो भगवान्के साथ अविकम्प (कभी विचलित न किया जानेवाला) योग अर्थात् सम्बन्ध हो जायगा।

यहाँ 'सर्वस्य' और 'सर्वम्'—दो बार 'सर्व' पद देनेका तात्पर्य है कि भगवान्के सिवाय इस सृष्टिका न कोई उत्पादक है और न कोई संचालक है। इस सृष्टिके उत्पादक

* जैसे सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्ने अपनेको अपरा और परा प्रकृतिका कारण बताया है और चौदहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें अपनेको बीज प्रदान करनेवाला पिता बताया है, ऐसे ही यहाँ भगवान्ने अपनेको सबका उत्पादक बताया है।

और संचालक केवल भगवान् ही हैं।

‘इति मत्वा भावसमन्विताः’—भगवान्से ही सब संसारकी उत्पत्ति होती है और सारे संसारको सत्ता-स्फूर्ति भगवान्से ही मिलती है अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूपसे सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा जो दृढ़तासे मान लेते हैं, वे ‘भगवान् ही सर्वोपरि हैं; भगवान्के समान कोई हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं तथा होना सम्भव भी नहीं’—ऐसे सर्वोच्च भावसे युक्त हो जाते हैं। इस प्रकार जब उनकी महत्त्वबुद्धि केवल भगवान्में हो जाती है तो फिर उनका आकर्षण, श्रद्धा, विश्वास, प्रेम आदि सब भगवान्में ही हो जाते हैं। भगवान्का ही आश्रय लेनेसे उनमें समता, निर्विकारता, निःशोकता, निश्चिन्तता, निर्भयता आदि स्वतःस्वाभाविक ही आ जाते हैं। कारण कि जहाँ देव (परमात्मा) होते हैं, वहाँ देवी-सम्पत्ति स्वाभाविक ही आ जाती है।

‘बुधाः’—भगवान्के सिवाय अन्यकी सत्ता ही न मानना, भगवान्को ही सबके मूलमें मानना, भगवान्का ही आश्रय लेकर उनमें ही श्रद्धा-प्रेम करना—यही उनकी बुद्धिमानी है। इसलिये उनको बुद्धिमान् कहा गया है। इसी बातको आगे पन्द्रहवें अध्यायके अठारहवें-उन्नीसवें श्लोकोंमें कहा है कि जो मेरेको क्षर-(संसारमात्र-) से अतीत और अक्षर-(जीवात्मा-)से उत्तम जानता है, वह सर्ववित् है और सर्वभावसे मेरा ही भजन करता है।

‘माम् भजन्ते’—भगवान्के नामका जप-कीर्तन करना, भगवान्के रूपका चिन्तन-ध्यान करना, भगवान्की कथा

सुनना, भगवत्सम्बन्धी ग्रन्थों-(गीता, रामायण, भागवत आदि) का पठन-पाठन करना—ये सब-के-सब भजन हैं। परन्तु असली भजन तो वह है, जिसमें हृदय भगवान्की तरफ ही खिंच जाता है, केवल भगवान् ही प्यारे लगते हैं, भगवान्की विस्मृति चुभती है, बुरी लगती है। इस प्रकार भगवान्में तल्लीन होना ही असली भजन है।

विशेष बात

सबके मूलमें परमात्मा है और परमात्मासे ही वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, घटना आदि सबको सत्ता-स्फूर्ति मिलती है—ऐसा ज्ञान होना परमात्मप्राप्ति चाहनेवाले सभी साधकोंके लिये बहुत आवश्यक है। कारण कि जब सबके मूलमें परमात्मा ही है, तब साधकका लक्ष्य भी परमात्माकी तरफ ही होना चाहिये। उस परमात्माकी तरफ लक्ष्य करानेमें ही सम्पूर्ण विभूतियों और योगके ज्ञानका तात्पर्य है। यही बात गीतामें जगह-जगह बतायी गयी है; जैसे—जिससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है और जिससे सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा पूजन करना चाहिये (अठारहवें अध्यायका छियालीसवाँ श्लोक); जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें विराजमान है और जो सब प्राणियोंको प्रेरणा देता है, उस परमात्माकी सर्वभावसे शरण जाना चाहिये (अठारहवें अध्यायका इकसठवाँ-बासठवाँ श्लोक); इत्यादि। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये साधन तो अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, पर उपर्युक्त ज्ञान सभी साधकोंके लिये बहुत ही आवश्यक है।

परिशिष्ट भाव—लोग रुपयोंको इसलिये बहुत महत्त्व देते हैं कि उनसे सब वस्तुएँ मिल सकती हैं। रुपयोंसे तो वस्तुएँ मिलती हैं, पैदा नहीं होतीं, पर भगवान्से सम्पूर्ण वस्तुएँ पैदा भी होती हैं और मिलती भी हैं! इस प्रकार जो भगवान्के महत्त्वको जान लेते हैं, वे तुच्छ रुपयोंके लोभमें न फँसकर भगवान्के ही भजनमें लग जाते हैं—**‘स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत’** (गीता १५। १९)।

भगवान् कहते हैं कि पदार्थ और व्यक्ति भी मेरेसे होते हैं (**अहं सर्वस्य प्रभवः**) और क्रियाएँ भी मेरेसे होती हैं (**मत्तः सर्वं प्रवर्तते**)। परन्तु जीव पदार्थों और क्रियाओंसे सम्बन्ध जोड़कर, उनको अपना मानकर, उनका भोक्ता और कर्ता बनकर बँध जाता है। भोक्ता बननेसे पदार्थ बन्धनकारक हो जाते हैं और कर्ता बननेसे क्रियाएँ बन्धनकारक हो जाती हैं। अगर जीव भोक्ता और कर्ता न बने तो बन्धन है ही नहीं।

संसारमें जो भी प्रभाव देखनेमें आता है, वह सब भगवान्का ही है—यह बात भगवान्ने गीतामें **‘मत्तः’** पदसे कई जगह कही है; जैसे—

‘मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति’ (७। ७)

‘मेरे सिवाय इस संसारका दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी कारण तथा कार्य नहीं है।’

‘मत्त एवेति तान्विद्धि’ (७। १२)

‘ये (सात्त्विक, राजस और तामस) भाव मुझसे ही होते हैं—ऐसा उनको समझो।’

‘भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः’ (१०। ५)

‘प्राणियोंके ये (बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह आदि) अनेक प्रकारके अलग-अलग भाव मुझसे ही होते हैं।’

‘मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च’ (१५।१५)

‘मेरेसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय आदि दोषोंका नाश) होता है।’

सम्बन्ध—अब आगेके श्लोकमें उन भक्तोंका भजन किस रीतिसे होता है—यह बताते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् । कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ १ ॥

मच्चित्ताः	= मुझमें चित्तवाले	आदिको) जनाते	तुष्यन्ति	= सन्तुष्ट रहते हैं
मद्गतप्राणाः	= मुझमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले (भक्तजन)	हुए = और	च	= और
परस्परम्	= आपसमें	कथयन्तः	माम्	= मुझमें
बोधयन्तः	= (मेरे गुण, प्रभाव	= उनका कथन करते हुए	च	= ही
	नित्यम्	= नित्य-निरन्तर	रमन्ति	= प्रेम करते हैं।

व्याख्या—[इस श्लोकमें छः बातें हैं। उनमेंसे ‘मच्चित्ताः’ और ‘मद्गतप्राणाः’ ये दो बातें स्वयं करनेकी हैं अर्थात् भक्त स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक ऐसे बन जाते हैं, ‘बोधयन्तः’ और ‘कथयन्तः’—ये दो बातें आपसमें मिलनेपर होती हैं तथा ‘तुष्यन्ति और रमन्ति’—ये दो बातें फलरूपमें होती हैं।

भगवान्से ही सब उत्पन्न हुए हैं और भगवान्से ही सबकी चेष्टा हो रही है अर्थात् सबके मूलमें परमात्मा है—यह बात जिनको दृढ़तासे और निःसन्देहपूर्वक जँच गयी है, उनके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता। बस, उनका एक ही काम रहता है—सब प्रकारसे भगवान्में ही लगे रहना। यही बात इस श्लोकमें बतायी गयी है।]

‘मच्चित्ताः’—वे मेरेमें चित्तवाले हैं। एक स्वयंका भगवान्में लगना होता है और एक चित्तको भगवान्में लगाना होता है। जहाँ ‘मैं भगवान्का हूँ’ ऐसे स्वयं भगवान्में लग जाता है, वहाँ चित्त, बुद्धि आदि सब स्वतः भगवान्में लग जाते हैं। कारण कि कर्ता-(स्वयं-) के लगनेपर करण (मन, बुद्धि आदि) अलग थोड़े ही रहेंगे! वे भी लग जायँगे। करणोंके लगनेपर तो कर्ता अलग रह सकता है, पर कर्ताके लगनेपर करण अलग नहीं रह सकते। जहाँ कर्ता रहेगा, वहाँ करण भी रहेंगे। कारण कि करण कर्ताके ही अधीन होते हैं। कर्ता स्वयं जहाँ लगता है, करण भी वहीं लगते हैं। जैसे, कोई मनुष्य परमात्मप्राप्तिके लिये सच्चे हृदयसे साधक बन जाता है, तो साधनमें उसका मन स्वतः लगता है। उसका मन साधनके सिवाय अन्य

किसी कार्यमें नहीं लगता और जिस कार्यमें लगता है, वह कार्य भगवान्का ही होता है। कारण कि स्वयं कर्ताके विपरीत मन-बुद्धि आदि नहीं चलते। परन्तु जहाँ स्वयं भगवान्में नहीं लगता, प्रत्युत ‘मैं तो संसारी हूँ’, ‘मैं तो गृहस्थ हूँ’—इस प्रकार स्वयंको संसारमें लगाकर चित्तको भगवान्में लगाना चाहता है, उसका चित्त भगवान्में निरन्तर नहीं लगता। तात्पर्य है कि स्वयं तो संसारी बना रहे और चित्तको भगवान्में लगाना चाहे, तो भगवान्में चित्त लगाना असम्भव-सा है।

दूसरी बात, चित्त वहीं लगता है, जहाँ प्रियता होती है। प्रियता वहीं होती है, जहाँ अपनापन होता है, आत्मीयता होती है। अपनापन होता है—भगवान्के साथ स्वयंका सम्बन्ध जोड़नेसे। ‘मैं केवल भगवान्का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं, शरीर-संसार मेरा नहीं है। मेरेपर प्रभुका पूरा अधिकार है, इसलिये वे मेरे प्रति चाहे जैसा बर्ताव या विधान कर सकते हैं। परन्तु मेरा प्रभुपर कोई अधिकार नहीं है अर्थात् वे मेरे हैं तो मैं जैसा चाहूँ, वे वैसा ही करें—ऐसा कोई अधिकार नहीं है’—इस प्रकार जो स्वयंको भगवान्का मान लेता है, अपने-आपको भगवान्के अर्पित कर देता है, उसका चित्त स्वतः भगवान्में लग जाता है। ऐसे भक्तोंको ही यहाँ ‘मच्चित्ताः’ कहा गया है।

यहाँ ‘मच्चित्ताः’ पदमें चित्तके अन्तर्गत ही मन है अर्थात् मनोवृत्ति अलग नहीं है। गीतामें चित्त और मनको एक भी कहा है और अलग-अलग भी; जैसे ‘भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च’ (७।४)—यहाँ मनके अन्तर्गत ही चित्त है और ‘मनः संयम्य मच्चित्तः’

(६।१४)—यहाँ मन और चित्त अलग-अलग हैं। परन्तु इस श्लोकमें आये 'मच्चिन्ताः' पदमें मन और चित्त एक ही हैं, दो नहीं।

'मद्गतप्राणाः'—उनके प्राण मेरे ही अर्पण हो गये हैं। प्राणोंमें दो बातें हैं—जीना और चेष्टा। उन भक्तोंका जीना भी भगवान्के ही लिये है और शरीरकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ (क्रियाएँ) भी भगवान्के लिये ही हैं। शरीरकी जितनी क्रियाएँ होती हैं, उनमें प्राणोंकी ही मुख्यता होती है। अतः उन भक्तोंकी यज्ञ, अनुष्ठान आदि शास्त्रीय; भजन-ध्यान, कथा-कीर्तन आदि भगवत्सम्बन्धी; खाना-पीना आदि शारीरिक; खेती, व्यापार आदि जीविका-सम्बन्धी; सेवा आदि सामाजिक आदि-आदि जितनी क्रियाएँ होती हैं, वे सब भगवान्के लिये ही होती हैं। उनकी क्रियाओंमें क्रियाभेद तो होता है, पर उद्देश्यभेद नहीं होता। उनकी मात्र क्रियाएँ एक भगवान्के उद्देश्यसे ही होती हैं। इसलिये वे 'भगवद्गतप्राण' होते हैं।

जैसे गोपिकाओंने 'गोपीगीत' में भगवान्से कहा है कि हमने अपने प्राणोंको आपमें अर्पण कर दिया है— 'त्वयि धृतासवः' (श्रीमद्भा० १०।३१।१), ऐसे ही भक्तोंके प्राण केवल भगवान्में रहते हैं। उनका जितना भगवान्से अपनापन है, उतना अपने प्राणोंसे नहीं। हरेक प्राणीमें 'किसी भी अवस्थामें मेरे प्राण न छूटें' इस तरह जीनेकी इच्छा रहती है। यह प्राणोंका मोह है, स्नेह है। परन्तु भगवान्के भक्तोंका प्राणोंमें मोह नहीं रहता। उनमें 'हम जीते रहें' यह इच्छा नहीं होती और मरनेका भय भी नहीं होता। उनको न जीनेसे मतलब रहता है और न मरनेसे। उनको तो केवल भगवान्से मतलब रहता है। कारण कि वे इस बातको अच्छी तरहसे जान जाते हैं कि मरनेसे तो प्राणोंका ही वियोग होता है, भगवान्से तो कभी वियोग होता ही नहीं। प्राणोंके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है, पर भगवान्के साथ हमारा स्वतःसिद्ध घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राण प्रकृतिके कार्य हैं और हम स्वयं भगवान्के अंश हैं।

ऐसे 'मद्गतप्राणाः' होनेके लिये साधकको सबसे पहले यह उद्देश्य बनाना चाहिये कि हमें तो भगवत्प्राप्ति

ही करनी है। सांसारिक चीजें प्राप्त हों या न हों, हम स्वस्थ रहें या बीमार, हमारा आदर हो या निरादर, हमें सुख मिले या दुःख—इनसे हमारा कोई मतलब नहीं है। हमारा मतलब तो केवल भगवान्से है। ऐसा दृढ़ उद्देश्य बननेपर साधक 'भगवद्गतप्राण' हो जायगा।

'बोधयन्तः परस्परम्'—उन भक्तोंको भगवद्भाववाले, भगवद्गुरुचिवाले मिल जाते हैं तो उनके बीच भगवान्की बात छिड़ जाती है। फिर वे आपसमें एक-दूसरेको भगवान्के तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभाव आदि जनाते हैं तो एक विलक्षण सत्संग होता है*। जब वे आपसमें भावपूर्वक बातें करते हैं, तब उनके भीतर भगवत्सम्बन्धी विलक्षण-विलक्षण बातें स्वतः आने लगती हैं। जैसे दीपकके नीचे अँधेरा रहता है, पर दो दीपक एक-दूसरेके सामने रख दें तो दोनों दीपकोंके नीचेका अँधेरा दूर हो जाता है। ऐसे ही जब दो भगवद्भक्त एक साथ मिलते हैं और आपसमें भगवत्-सम्बन्धी बातें चल पड़ती हैं, तब किसीके मनमें किसी तरहका भगवत्सम्बन्धी विलक्षण भाव पैदा होता है तो वह उसे प्रकट कर देता है तथा दूसरेके मनमें और तरहका भाव पैदा होता है तो वह भी उसे प्रकट कर देता है। इस प्रकार आदान-प्रदान होनेसे उनमें नये-नये भाव प्रकट होते रहते हैं। परन्तु अकेलेमें भगवान्का चिन्तन करनेसे उतने भाव प्रकट नहीं होते। अगर भाव प्रकट हो भी जायँ तो अकेले अपने पास ही रहते हैं, उनका आदान-प्रदान नहीं होता।

'कथयन्तश्च माम्'—उनको भगवान्की कथा-लीला सुननेवाला कोई भगवद्भक्त मिल जाता है, तो वे भगवान्की कथा-लीला कहना शुरू कर देते हैं। जैसे सनकादि चारों भगवान्की कथा कहते हैं और सुनते हैं। उनमें कोई एक वक्ता बन जाता है और तीन श्रोता बन जाते हैं। ऐसे ही भगवान्के प्रेमी भक्तोंको कोई सुननेवाला मिल जाता है तो वे उसको भगवान्की कथा, गुण, प्रभाव, रहस्य आदि सुनाते हैं और कोई सुननेवाला मिल जाता है तो स्वयं सुनने लग जाते हैं। परन्तु उनमें सुनाते समय 'वक्ता' बननेका अभिमान नहीं होता और सुनते समय 'श्रोता' बननेकी लज्जा नहीं होती।

* सतामयं सारभृतां निसर्गो यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि। प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत् स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता॥

(श्रीमद्भा० १०।१३।२)

'सार-तत्त्वको धारण करनेवाले पुरुषोंका यह स्वभाव होता है कि उनकी वाणी, कान और अन्तःकरण भगवान्की लीलाओंको गाने, सुनने और चिन्तन करनेके लिये ही होते हैं। जैसे लम्पट पुरुषोंको स्त्रियोंकी चर्चामें नयापन मालूम देता है, ऐसे ही भक्तोंको भगवान्की लीलाओंमें, कथाओंमें नित्य नयापन मालूम देता है।

‘नित्यं तुष्यन्ति च’—इस तरह भगवान्की कथा, लीला, गुण, प्रभाव, रहस्य आदिको आपसमें एक-दूसरेको जनाते हुए और उनका ही कथन तथा चिन्तन करते हुए वे भक्त नित्य-निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं। तात्पर्य है कि उनकी सन्तुष्टिका कारण भगवान्के सिवाय दूसरा कोई नहीं रहता, केवल भगवान् ही रहते हैं।

‘रमन्ति च’—वे भगवान्में ही रमण अर्थात् प्रेम करते हैं। इस प्रेममें उनमें और भगवान्में भेद नहीं रहता—

परिशिष्ट भाव—यहाँ भगवान् सातवें श्लोकमें वर्णित अविचल भक्तियोगका वर्णन करते हैं। भगवान्के भक्तोंका चित्त एक भगवान्को छोड़कर कहीं नहीं जाता। उनकी दृष्टिमें जब एक भगवान्के सिवाय और कुछ है ही नहीं तो फिर उनका चित्त कहाँ जायगा, कैसे जायगा और क्यों जायगा? वे भक्त भगवान्के लिये ही जीते हैं और उनकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ भी भगवान्के लिये ही होती हैं। कोई सुननेवाला आ जाय तो वे भगवान्के गुण, प्रभाव आदिकी विलक्षण बातोंका ज्ञान कराते हैं, भगवान्की कथा-लीलाका वर्णन करते हैं और कोई सुनानेवाला आ जाय तो प्रेमपूर्वक सुनते हैं। न तो कहनेवाला तृप्त होता है और न सुननेवाला ही तृप्त होता है! तृप्ति नहीं होती—यह वियोग है और नित नया रस मिलता है—यह योग है। इस वियोग और योगके कारण प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है। नारदभक्तिसूत्रमें आया है—

कण्ठावरोधरोमांचाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च ॥ ६८ ॥

‘ऐसे अनन्य भक्त कण्ठावरोध, रोमांच और अश्रुयुक्त नेत्रवाले होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको और पृथ्वीको पवित्र कर देते हैं।’

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भक्तोंके द्वारा होनेवाले भजनका प्रकार बताकर अब आगेके दो श्लोकोंमें भगवान् उनपर विशेष कृपा करनेकी बात बताते हैं।

**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥**

तेषाम्	= उन	भजताम्	= (मेरा) भजन करनेवाले भक्तोंको	येन	= जिससे
सतत-				ते	= उनको
युक्तानाम्	= नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए (और)	तम्	= (मैं) वह	माम्	= मेरी
प्रीतिपूर्वकम्	= प्रेमपूर्वक	बुद्धियोगम्	= बुद्धियोग	उपयान्ति	= प्राप्ति हो जाती है।
		ददामि	= देता हूँ,		

व्याख्या—[भगवन्निष्ठ भक्त भगवान्को छोड़कर न तो समता चाहते हैं, न तत्त्वज्ञान चाहते हैं तथा न और ही कुछ चाहते हैं^१। उनका तो एक ही काम है—हरदम भगवान्में लगे रहना। भगवान्में लगे रहनेके सिवाय उनके लिये और कोई काम ही नहीं है। अब सारा-का-सारा काम, सारी

जिम्मेवारी भगवान्की ही है अर्थात् उन भक्तोंसे जो कुछ कराना है, उनको जो कुछ देना है आदि सब काम भगवान्का ही रह जाता है। इसलिये भगवान् यहाँ (दो श्लोकोंमें) उन भक्तोंको समता और तत्त्वज्ञान देनेकी बात कह रहे हैं।]

१-‘एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्।’ (श्रीमद्भा० १०। ८६। ५९)

२-न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्दिनान्यत् ॥ (श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

‘स्वयंको मेरे अर्पित करनेवाला भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य, पातालादि लोकोंका राज्य, योगकी समस्त सिद्धियाँ और मोक्षको भी नहीं चाहता।’

‘तेषां सततयुक्तानाम्’—नवें श्लोकके अनुसार जो भगवान्में ही चित्त और प्राणवाले हैं, भगवान्के गुण, प्रभाव, लीला, रहस्य आदिको आपसमें एक-दूसरेको जनाते हुए तथा भगवान्के नाम, गुणोंका कथन करते हुए नित्य-निरन्तर भगवान्में ही सन्तुष्ट रहते हैं और भगवान्में ही प्रेम करते हैं, ऐसे नित्य-निरन्तर भगवान्में लगे हुए भक्तोंके लिये यहाँ ‘सततयुक्तानाम्’ पद आया है।

‘भजतां प्रीतिपूर्वकम्’—वे भक्त न ज्ञान चाहते हैं, न वैराग्य। जब वे पारमार्थिक ज्ञान, वैराग्य आदि भी नहीं चाहते, तो फिर सांसारिक भोग तथा अष्टसिद्धि और नव-निधि चाह ही कैसे सकते हैं! उनकी दृष्टि इन वस्तुओंकी तरफ जाती ही नहीं। उनके हृदयमें सिद्धि आदिका कोई आदर नहीं होता, कोई मूल्य नहीं होता। वे तो केवल भगवान्को अपना मानते हुए प्रेमपूर्वक स्वाभाविक ही भगवान्के भजनमें लगे रहते हैं। उनका किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिसे किसी तरहका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उनका भजन, भक्ति यही है कि हरदम भगवान्में लगे रहना है। भगवान्की प्रीतिमें वे इतने मस्त रहते हैं कि उनके भीतर स्वप्नमें भी भगवान्के सिवाय अन्य किसीकी इच्छा जाग्रत् नहीं होती।

‘ददामि बुद्धियोगं तम्’—किसी वस्तु, व्यक्ति,

परिशिष्ट भाव—जबतक राग-द्वेष (विषमता) है, तबतक संसार ही दीखता है, भगवान् नहीं दीखते। भगवान् द्वन्द्वातीत हैं। जबतक राग-द्वेषरूप द्वन्द्व रहता है, तबतक दो चीजें दीखती हैं, एक चीज नहीं दीखती। जब राग-द्वेष मिट जाते हैं, तब एक भगवान्के सिवाय कुछ नहीं दीखता! तात्पर्य है कि राग-द्वेष मिटनेपर अर्थात् समता आनेपर ‘सब कुछ भगवान् ही हैं’—ऐसा अनुभव हो जाता है। इसलिये भगवान् अपने भक्तोंको समता देते हैं। समता ही ‘बुद्धियोग’ अर्थात् कर्मयोग है—‘समत्वं योग उच्यते’ (गीता २।४८)। गीतामें कर्मयोगको ‘बुद्धियोग’ नामसे कहा गया है; जैसे—‘दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय’ (२।४९), ‘बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चिन्तः सततं भव’ (१८।५७)। बुद्धियोग प्राप्त होनेपर भक्त दूसरेके दुःखसे दुःखी होकर उसको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करता है।

एक चिन्तन ‘करते’ हैं और एक चिन्तन ‘होता’ है। जो चिन्तन, भजन करते हैं, वह नकली (कृत्रिम) होता है और जो स्वतः होता है, वह असली होता है। क्रिया जानेवाला चिन्तन निरन्तर नहीं होता, पर होनेवाला चिन्तन श्वासकी तरह निरन्तर होता है, उसमें अन्तर नहीं पड़ता—‘सततयुक्तानाम्’। शरीरमें प्रियता, आसक्ति होनेसे भगवान्का चिन्तन करना पड़ता है और शरीरका चिन्तन स्वतः होता है। परन्तु भगवान्में प्रियता (अपनापन) होनेसे भजन करना नहीं पड़ता, प्रत्युत स्वतः होता है और छूटता भी नहीं। इसलिये यहाँ प्रेमपूर्वक भजन करनेकी बात आयी है—‘भजतां प्रीतिपूर्वकम्’।

घटना, परिस्थिति आदिके संयोग-वियोगसे अन्तःकरणमें कोई हलचल न हो अर्थात् संसारके पदार्थ मिलें या न मिलें, नफा हो या नुकसान हो, आदर हो या निरादर हो, स्तुति हो या निन्दा हो, स्वास्थ्य ठीक रहे या न रहे आदि तरह-तरहकी और एक-दूसरेसे विरुद्ध विभिन्न परिस्थितियाँ आनेपर भी उनमें एकरूप (सम) रह सकें—ऐसा बुद्धियोग अर्थात् समता में उन भक्तोंको देता हूँ।

‘ददामि’ का तात्पर्य है कि वे बुद्धियोगको अपना नहीं मानते, प्रत्युत भगवान्का दिया हुआ ही मानते हैं। इसलिये बुद्धियोगको लेकर उनको अपनेमें कोई विशेषता नहीं मालूम देती।

‘येन’—मैं उनको वह बुद्धियोग देता हूँ, जिस बुद्धियोगसे वे मेरेको प्राप्त हो जाते हैं।

‘मामुपयान्ति ते’—जब वे भगवान्में ही चित्त और प्राणवाले हो गये हैं और भगवान्में ही सन्तुष्ट रहते हैं तथा भगवान्में ही प्रेम करते हैं, तो उनके लिये अब भगवान्को प्राप्त होना क्या बाकी रहा, जिससे कि भगवान्को यह कहना पड़ रहा है कि वे मेरेको प्राप्त हो जाते हैं? मेरेको प्राप्त हो जानेका तात्पर्य है कि वे प्रेमी भक्त अपनेमें जो कमी मानते हैं, वह कमी उनमें नहीं रहती अर्थात् उन्हें पूर्णताका अनुभव हो जाता है।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं

तमः ।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

तेषाम् = उन भक्तोंपर
अनुकम्पार्थम् = कृपा करनेके

एव = ही

आत्मभावस्थः = उनके स्वरूप-
(होनेपन-)में

रहनेवाला	तमः	= अन्धकारको	दीपकके द्वारा
अहम् = मैं (उनके)	भास्वता	= देदीप्यमान	= नष्ट कर देता
अज्ञानजन्म = अज्ञानजन्य	ज्ञानदीपेन	= ज्ञानरूप	हूँ।

व्याख्या—‘तेषामेवानुकम्प्यार्थमहमज्ञानजं तमः’—उन भक्तोंके हृदयमें कुछ भी सांसारिक इच्छा नहीं होती। इतना ही नहीं, उनके भीतर मुझे छोड़कर मुक्तितककी भी इच्छा नहीं होती^१। अभिप्राय है कि वे न तो सांसारिक चीजें चाहते हैं और न पारमार्थिक चीजें (मुक्ति, तत्त्वबोध आदि) ही चाहते हैं। वे तो केवल प्रेमसे मेरा भजन ही करते हैं। उनके इस निष्कामभाव और प्रेमपूर्वक भजन करनेको देखकर मेरा हृदय द्रवित हो जाता है। मैं चाहता हूँ कि मेरे द्वारा उनकी कुछ सेवा बन जाय, वे मेरेसे कुछ ले लें। परन्तु वे मेरेसे कुछ लेते नहीं तो द्रवित हृदय होनेके कारण केवल उनपर कृपा करनेके लिये कृपा-परवश होकर मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको दूर कर देता हूँ। मेरे द्रवित हृदय होनेका कारण यह है कि मेरे भक्तोंमें किसी प्रकारकी किञ्चिन्मात्र भी कमी न रहे।

‘आत्मभावस्थः’—मनुष्य अपना जो होनापन मानते हैं कि ‘मैं हूँ’ तो यह होनापन प्रायः प्रकृति-(शरीर-) के साथ सम्बन्ध जोड़कर ही मानते हैं अर्थात् तादात्म्यके कारण शरीरके बदलनेमें अपना बदलना मानते हैं, जैसे—मैं बालक हूँ, मैं जवान हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं निर्बल हूँ इत्यादि। परन्तु इन विशेषणोंको छोड़कर तत्त्वकी दृष्टिसे इन प्राणियोंका अपना जो होनापन है, वह प्रकृतिसे रहित है। इसी होनेपनमें सदा रहनेवाले प्रभुके लिये यहाँ ‘आत्मभावस्थः’ पद आया है।

‘भास्वता ज्ञानदीपेन नाशयामि’—प्रकाशमान ज्ञानदीपकके द्वारा उन प्राणियोंके अज्ञानजन्य अन्धकारका नाश कर देता हूँ। तात्पर्य है कि जिस अज्ञानके कारण ‘मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है?’ ऐसा जो अनजानपना रहता है, उस अज्ञानका मैं नाश कर देता हूँ अर्थात् तत्त्वबोध करा देता हूँ। जिस तत्त्वबोधकी महिमा शास्त्रोंमें गायी गयी है, उसके लिये उनको श्रवण, मनन, निदिध्यासन

आदि साधन नहीं करने पड़ते, कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, प्रत्युत मैं स्वयं उनको तत्त्वबोध करा देता हूँ।

विशेष बात

भक्त जब अनन्यभावसे केवल भगवान्में लगे रहते हैं, तब सांसारिक सिद्धि-असिद्धिमें सम रहना—यह ‘समता’ भी भगवान् देते हैं और जिसके समान पवित्र कोई नहीं है, वह ‘तत्त्वबोध’ (स्वरूपज्ञान) भी भगवान् स्वयं देते हैं। भगवान्के स्वयं देनेका तात्पर्य है कि भक्तोंको इनके लिये इच्छा और प्रयत्न नहीं करना पड़ता; प्रत्युत भगवत्कृपासे उनमें समता स्वतः आ जाती है। उनको तत्त्वबोध स्वतः हो जाता है। कारण कि जहाँ भक्तिरूपी माँ होगी, वहाँ उसके वैराग्य और ज्ञानरूपी बेटे रहेंगे ही। इसलिये भक्तिके आनेपर समता—संसारसे वैराग्य और अपने स्वरूपका बोध—ये दोनों स्वतः आ जाते हैं। इसका तात्पर्य है कि जो साधनजन्य पूर्णता होती है, उसकी अपेक्षा भगवान्द्वारा की हुई पूर्णता बहुत विलक्षण होती है। इसमें अपूर्णताकी गंध भी नहीं रहती।

जैसे भगवान् अनन्यभावसे भजन करनेवाले भक्तोंका योगक्षेम वहन करते हैं (गीता—नवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक), ऐसे ही जो केवल भगवान्के ही परायण हैं, ऐसे प्रेमी भक्तोंको (उनके न चाहनेपर भी और उनके लिये कुछ भी बाकी न रहनेपर भी) भगवान् समता और तत्त्वबोध देते हैं। यह सब देनेपर भी भगवान् उन भक्तोंके ऋणी ही बने रहते हैं। भागवतमें भगवान्ने गोपियोंके लिये कहा है कि ‘मेरे साथ सर्वथा निर्दोष (अनिन्द्य) सम्बन्ध जोड़नेवाली गोपियोंका मेरेपर जो एहसान है, ऋण है, उसको मैं देवताओंके समान लम्बी आयु पाकर भी नहीं चुका सकता। कारण कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, त्यागी आदि भी घरकी जिस अपनापनरूपी बेड़ियोंको सुगमतासे नहीं तोड़ पाते, उनको उन्होंने तोड़ डाला है’^१

भक्त भगवान्के भजनमें इतने तल्लीन रहते हैं कि

१-(१) सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥ (श्रीमद्भा० ३। २९। १३)
‘मेरे प्रेमी भक्तगण मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य (इन पाँच प्रकारकी) मुक्तियोंको देनेपर भी नहीं लेते।’

(२) अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने ॥ (मानस ७। ११९। ४)

२-न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः। या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥ (श्रीमद्भा० १०। ३२। २२)

उनको यह पता ही नहीं रहता कि हमारेमें समता आयी है, हमें स्वरूपका बोध हुआ है। अगर कभी पता लग भी जाता है तो वे आश्चर्य करते हैं कि ये समता और बोध कहाँसे आये! वे 'अपनेमें कोई विशेषता न दीखे' इसके

लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं कि 'हे नाथ! आप समता, बोध ही नहीं, दुनियाके उद्धारका अधिकार भी दे दें, तो भी मेरेको कुछ मालूम नहीं होना चाहिये कि मेरेमें यह विशेषता है 'मैं केवल आपके भजन-चिन्तनमें ही लगा रहूँ।'

परिशिष्ट भाव—यद्यपि कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है, तथापि भगवान् अपने भक्तोंको कर्मयोग भी दे देते हैं—'ददामि बुद्धियोगं तम्' और ज्ञानयोग भी दे देते हैं—'ज्ञानदीपेन भास्वता'। अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्की ही हैं। इसलिये भगवान् कृपा करके अपने भक्तको अपराकी प्रधानतासे होनेवाला कर्मयोग और पराकी प्रधानतासे होनेवाला ज्ञानयोग—दोनों प्रदान करते हैं। अतः भक्तको कर्मयोगका प्रापणीय तत्त्व 'निष्कामभाव' और ज्ञानयोगका प्रापणीय तत्त्व 'स्वरूपबोध'—दोनों ही सुगमतासे प्राप्त हो जाते हैं। कर्मयोग प्राप्त होनेपर भक्तके द्वारा संसारका उपकार होता है और ज्ञानयोग प्राप्त होनेपर भक्तका देहाभिमान दूर हो जाता है।

भक्त भगवान्के चिन्तनमें, प्रेममें ही सन्तुष्ट और मग्न रहता है। उसको न तो अपनेमें कोई कमी दीखती है और न कुछ पानेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। जैसे बालक सर्वथा माँके ही आश्रित रहता है तो उसकी दृष्टि अपनी कमियोंकी तरफ जाती ही नहीं! माँ ही उसका ख्याल रखती है, उसको स्नान कराती है, मैले कपड़े उतारकर स्वच्छ कपड़े पहनाती है। ऐसे ही भक्त सर्वथा भगवान्के ही आश्रित हो जाता है कि 'मैं जैसा भी हूँ, भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'। वह अपनी तरफ देखता ही नहीं। इसलिये भगवान् ही उसके भीतर स्थित अज्ञानको तत्त्वज्ञानके द्वारा नष्ट कर देते हैं। बालकमें तो मूढ़ता विशेष रहती है, पर भक्तमें विवेक विशेष रहता है।

भक्तका खास कर्तव्य है—भगवान्को अपना मानना। भक्त अपने कर्तव्यका पालन करता है तो भगवान् भी अपने कर्तव्यका पालन करते हैं और उसके बिना माँगे, बिना चाहे, अपनी तरफसे कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंकी सामर्थ्य प्रदान कर देते हैं, जिससे उसमें किसी प्रकारकी कमी न रहे।

कर्मयोगमें शान्तरस, ज्ञानयोगमें अखण्डरस और भक्तियोगमें अनन्तरस है। शान्तरस और अखण्डरसमें अनन्तरस नहीं है, पर अनन्तरसमें शान्तरस भी है और अखण्डरस भी है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग लौकिक साधन हैं तथा भक्तियोग अलौकिक साधन है। अलौकिककी प्राप्ति होनेपर लौकिककी प्राप्ति भगवत्कृपासे स्वतः हो जाती है, पर लौकिककी प्राप्ति होनेपर अलौकिककी प्राप्ति नहीं होती। कारण कि अलौकिकमें तो लौकिक आ जाता है, पर लौकिकमें अलौकिक नहीं आता।

ज्ञानी तो भक्तिसे रहित हो सकता है, पर भक्त ज्ञानसे रहित नहीं हो सकता। गोपियोंने श्रुतियोंका अध्ययन भी नहीं किया था, ज्ञानी महापुरुषोंका संग भी नहीं किया था और व्रत, तप आदि भी नहीं किये थे, फिर भी उनमें विलक्षण ज्ञान था! तात्पर्य है कि भक्तको स्वरूपका भी बोध हो जाता है। 'वासुदेवः सर्वम्' का बोध तो उसको है ही!

'आत्मभावस्थः'—जीवमें भगवान् रहते हैं; क्योंकि वह भगवान्का ही अंश है। वास्तवमें भगवान् ही जीवरूपसे प्रकट हुए हैं; क्योंकि भगवान्की परा प्रकृति होनेसे जीव भगवान्से अभिन्न है। उपनिषद्में आया है कि शरीरोंकी रचना करके भगवान् आप ही उनमें प्रविष्ट हो गये—'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तैत्तिरीय० २। ६)।

१-मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा ॥ (मानस, अरण्य० ३६।५)

२-ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः। अत्रतातप्ततपसः सत्संगान्मामुपागताः ॥ (श्रीमद्भा० ११। १२। ७)

'उन्होंने न तो वेदोंका अध्ययन किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना ही की थी। इसी प्रकार उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी। बस, केवल सत्संग-(प्रेम-) के प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये।'

३-न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।

विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्त्वतां कुले ॥ (श्रीमद्भा० १०। ३१। ४)

(गोपियाँ कहती हैं—) 'हे सखे! आप निश्चय ही केवल यशोदाके पुत्र ही नहीं हैं, प्रत्युत सम्पूर्ण प्राणियोंकी अन्तरात्माके साक्षी हैं। ब्रह्माजीकी प्रार्थना सुनकर विश्वकी रक्षाके लिये ही आप यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं।'

सम्बन्ध—भक्तोंपर भगवान्की अलौकिक, विलक्षण कृपाकी बात सुनकर अर्जुनकी दृष्टि भगवान्की कृपाकी तरफ जाती है और कृपासे प्रभावित होकर वे आगेके चार श्लोकोंमें भगवान्की स्तुति करते हैं।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिनारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

अर्जुन बोले—

परम्	= परम	पुरुषम्	= पुरुष,	देवलः	= देवल
ब्रह्म	= ब्रह्म,	आदिदेवम्	= आदिदेव,	तथा	= तथा
परम्	= परम	अजम्	= अजन्मा (और)	व्यासः	= व्यास
धाम	= धाम (और)	विभुम्	= सर्वव्यापक हैं—	आहुः	= कहते हैं
परमम्	= महान्	त्वाम्	= (ऐसा) आपको	च	= और
पवित्रम्	= पवित्र	सर्वे	= सब-के-सब	स्वयम्	= स्वयं आप
भवान्	= आप ही हैं।	ऋषयः	= ऋषि,	एव	= भी
शाश्वतम्	= (आप) शाश्वत,	देवर्षिः	= देवर्षि,	मे	= मेरे प्रति
दिव्यम्	= दिव्य	नारदः	= नारद,	ब्रवीषि	= कहते हैं।
		असितः	= असित,		

व्याख्या—‘परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्’—अपने सामने बैठे हुए भगवान्की स्तुति करते हुए अर्जुन कहते हैं कि मेरे पूछनेपर जिसको आपने परम ब्रह्म (गीता—आठवें अध्यायका तीसरा श्लोक) कहा है, वह परम ब्रह्म आप ही हैं। जिसमें सब संसार स्थित रहता है, वह परम धाम अर्थात् परम स्थान आप ही हैं (गीता—नवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। जिसको पवित्रोंमें भी पवित्र कहा है—‘पवित्राणां पवित्रं यः’ वह महान् पवित्र

भी आप ही हैं।

‘पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं स्वयं चैव ब्रवीषि मे’—ग्रन्थोंमें ऋषियोंने,^१ देवर्षि नारदने^२, असित और उनके पुत्र देवल ऋषिने^३ तथा महर्षि व्यासजीने^४ आपको शाश्वत, दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मा और विभु कहा है। आत्माके रूपमें ‘शाश्वत’ (गीता—दूसरे अध्यायका बीसवाँ श्लोक), सगुण-निराकारके रूपमें ‘दिव्य पुरुष’ (गीता—आठवें अध्यायका दसवाँ श्लोक), देवताओं

१-मार्कण्डेय ऋषिने कहा है—‘श्रीकृष्ण यज्ञोंके यज्ञ, तपोंके तप और भूत-भविष्यत्-वर्तमानरूप हैं।’

(महा०, भीष्म० ६८।३)

भृगु ऋषिने कहा है—‘ये देवताओंके देवता और परम पुरातन विष्णु हैं।’ (महा०, भीष्म० ६८।४)

अंगिरा ऋषिने कहा है—‘ये सम्पूर्ण प्राणियोंकी रचना करनेवाले हैं।’ (महा०, भीष्म० ६८।६)

सनत्कुमार आदिने कहा है—‘इनके मस्तकसे आकाश और भुजाओंसे पृथ्वी व्याप्त है। तीनों लोक इनके उदरमें स्थित हैं। ये सनातन पुरुष हैं। तपसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही साधक इन्हें जान सकते हैं। आत्मसाक्षात्कारसे तृप्त हुए ऋषियोंमें भी ये परमोत्कृष्ट हैं। युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले उदार राजर्षियोंकी भी ये ही परमगति हैं।’ (महा०, भीष्म० ६८।८—१०)

२-देवर्षि नारदजीने कहा है—‘भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण लोकोंको उत्पन्न करनेवाले और सम्पूर्ण भावोंको जाननेवाले हैं। ये साध्यों और देवताओंके ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं।’ (महा०, भीष्म० ६८।२)

३-असित और देवल ऋषिने कहा है—‘भगवान् श्रीकृष्ण ही प्रजाकी सृष्टिमें प्रजापति और सम्पूर्ण लोकोंके एकमात्र रचयिता हैं।’ (महा०, वन० १२।५०)

४-महर्षि व्यासजीने कहा है—‘आप वसुओंके वासुदेव, इन्द्रको इन्द्रत्व देनेवाले और देवताओंके भी परम देवता हैं।’

(महा०, भीष्म० ६८।५)

और महर्षियों आदिके रूपमें 'आदिदेव' (गीता—दसवें अध्यायका दूसरा श्लोक), मूढलोग मेरेको अज नहीं जानते (गीता—सातवें अध्यायका पचीसवाँ श्लोक) तथा असम्मूढलोग मेरेको अज जानते हैं (गीता—दसवें

अध्यायका तीसरा श्लोक)— इस रूपमें 'अज' और मैं अव्यक्तरूपसे सारे संसारमें व्यापक हूँ (गीता—नवें अध्यायका चौथा श्लोक)—इस रूपमें 'विभु' स्वयं आपने मेरे प्रति कहा है।

परिशिष्ट भाव—निर्गुण-निराकारके लिये 'परं ब्रह्म', सगुण-निराकारके लिये 'परं धाम' और सगुण-साकारके लिये 'पवित्रं परमं भवान्' पदोंका प्रयोग करके अर्जुन भगवान्से मानो यह कहते हैं कि समग्र परमात्मा आप ही हैं (गीता—सातवें अध्यायका उनतीसवाँ-तीसवाँ श्लोक और आठवें अध्यायका पहलेसे चौथे श्लोकतक)।

जो स्वयं भी शुद्ध हो और दूसरोंको भी शुद्ध करे, वह 'परम पवित्र' है। भगवान् परम पवित्र हैं और उनके नाम, रूप आदि सब भी परम पवित्र हैं। चौथे अध्यायके अड़तीसवें श्लोकमें ज्ञानको इस लोकमें सबसे पवित्र बताया गया है—'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'। परन्तु वह ज्ञान भी समग्र भगवान्के अन्तर्गत है। अतः भगवान् ज्ञानसे भी अधिक पवित्र हैं।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।

न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

केशव	= हे केशव !	ऋतम्	= सत्य	हि	= तो
माम्	= मुझसे (आप)	मन्ये	= मानता हूँ।	देवाः	= देवता
यत्	= जो कुछ	भगवन्	= हे भगवन् !	विदुः	= जानते हैं (और)
वदसि	= कह रहे हैं,	ते	= आपके	न	= न
एतत्	= यह	व्यक्तिम्	= प्रकट होनेको	दानवाः	= दानव ही
सर्वम्	= सब (मैं)	न	= न		जानते हैं।

व्याख्या—'सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव'— 'क' नाम ब्रह्माका है, 'अ' नाम विष्णुका है, 'ईश' नाम शंकरका है और 'व' नाम वपु अर्थात् स्वरूपका है। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और शंकर जिसके स्वरूप हैं, उसको 'केशव' कहते हैं। अर्जुनका यहाँ 'केशव' सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि आप ही संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले हैं।

सातवेंसे नवें अध्यायतक मेरे प्रति आप 'यत्'—जो कुछ कहते आये हैं, वह सब मैं सत्य मानता हूँ; और 'एतत्'—अभी दसवें अध्यायमें आपने जो विभूति तथा योगका वर्णन किया है, वह सब भी मैं सत्य मानता हूँ। तात्पर्य है कि आप ही सबके उत्पादक और संचालक हैं। आपसे भिन्न कोई भी ऐसा नहीं हो सकता। आप ही सर्वोपरि हैं। इस प्रकार सबके मूलमें आप ही हैं—इसमें मेरेको कोई सन्देह नहीं है।

भक्तिमार्गमें विश्वासकी मुख्यता है। भगवान्ने पहले श्लोकमें अर्जुनको परम वचन सुननेके लिये आज्ञा दी थी, उसी परम वचनको अर्जुन यहाँ 'ऋतम्' अर्थात् सत्य

कहकर उसपर विश्वास प्रकट करते हैं।

'न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः'— आपने (गीता—चौथे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें) कहा है कि मेरे और तेरे बहुत-से जन्म बीत चुके हैं, उन सबको मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता। इसी प्रकार आपने (दसवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें) कहा है कि मेरे प्रकट होनेको देवता और महर्षि भी नहीं जानते। अपने प्रकट होनेके विषयमें आपने जो कुछ कहा है, वह सब ठीक ही है। कारण कि मनुष्योंकी अपेक्षा देवताओंमें जो दिव्यता है, वह दिव्यता भगवत्तत्त्वको जाननेमें कुछ भी काम नहीं आती। वह दिव्यता प्राकृत—उत्पन्न और नष्ट होनेवाली है। इसलिये वे आपके प्रकट होनेके तत्त्वको, हेतुको पूरा-पूरा नहीं जान सकते। जब देवता भी नहीं जान सकते, तो दानव जान ही कैसे सकते हैं? फिर भी यहाँ 'दानवाः' पद देनेका तात्पर्य यह है कि दानवोंके पास बहुत विलक्षण-विलक्षण माया है, जिससे वे विचित्र प्रभाव दिखा सकते हैं। परन्तु उस माया-शक्तिसे वे भगवान्को नहीं जान सकते। भगवान्के सामने दानवोंकी माया कुण्ठित हो जाती है।

कारण कि प्रकृति और प्रकृतिकी जितनी शक्तियाँ हैं, उन सबसे भगवान् अतीत हैं। भगवान् अनन्त हैं, असीम हैं और दानवोंकी माया-शक्ति कितनी ही विलक्षण होनेपर भी प्राकृत, सीमित और उत्पत्ति-विनाशशील है। सीमित और नाशवान् वस्तुके द्वारा असीम और अविनाशी तत्त्वको कैसे जाना जा सकता है।

तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य, देवता, दानव आदि कोई भी अपनी शक्तिसे, सामर्थ्यसे, योग्यतासे, बुद्धिसे भगवान्को

नहीं जान सकते। कारण कि मनुष्य आदिमें जितनी जाननेकी योग्यता, सामर्थ्य, विशेषता है, वह सब प्राकृत है और भगवान् प्रकृतिसे अतीत हैं। त्याग, वैराग्य, तप, स्वाध्याय आदि अन्तःकरणको निर्मल करनेवाले हैं, पर इनके बलसे भी भगवान्को नहीं जान सकते। भगवान्को तो अनन्यभावसे उनके शरण होकर उनकी कृपासे ही जान सकते हैं (गीता—दसवें अध्यायका ग्यारहवाँ और ग्यारहवें अध्यायका चौवनवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—भगवान्को अपनी शक्तिसे कोई जान नहीं सकता, प्रत्युत भगवान्की कृपासे ही जान सकता है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

(मानस २। १२७। २)

भगवान्के यहाँ बुद्धिके चमत्कार, सिद्धियाँ नहीं चल सकतीं। बड़े-बड़े भौतिक आविष्कारोंसे कोई भगवान्को नहीं जान सकता।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम। भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

भूतभावन	= हे भूतभावन !	पुरुषोत्तम	= हे पुरुषोत्तम !	आत्मना	= अपने-आपसे
भूतेश	= हे भूतेश !	त्वम्	= आप	आत्मानम्	= अपने-
देवदेव	= हे देवदेव !	स्वयम्	= स्वयं		आपको
जगत्पते	= हे जगत्पते !	एव	= ही	वेत्थ	= जानते हैं।

व्याख्या—‘भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते पुरुषोत्तम’—सम्पूर्ण प्राणियोंको संकल्पमात्रसे उत्पन्न करनेवाले होनेसे आप ‘भूतभावन’ हैं; सम्पूर्ण प्राणियोंके और देवताओंके मालिक होनेसे आप ‘भूतेश’ और ‘देवदेव’ हैं; जड-चेतन, स्थावर-जंगममात्र जगत्का पालन-पोषण करनेवाले होनेसे आप ‘जगत्पति’ हैं; और सम्पूर्ण पुरुषोंमें उत्तम होनेसे आप लोकमें और वेदमें ‘पुरुषोत्तम’ नामसे कहे गये हैं (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)।

इस श्लोकमें पाँच सम्बोधन आये हैं। इतने सम्बोधन गीताभरमें दूसरे किसी भी श्लोकमें नहीं आये। कारण है

कि भगवान्की विभूतियोंकी और भक्तोंपर कृपा करनेकी बात सुनकर अर्जुनमें भगवान्के प्रति विशेष भाव पैदा होते हैं और उन भावोंमें विभोर होकर वे भगवान्के लिये एक साथ पाँच सम्बोधनोंका प्रयोग करते हैं।^१

‘स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वम्’—भगवान् अपने-आपको अपने-आपसे ही जानते हैं। अपने-आपको जाननेमें उन्हें किसी प्राकृत साधनकी आवश्यकता नहीं होती। अपने-आपको जाननेमें उनकी अपनी कोई वृत्ति पैदा नहीं होती, कोई जिज्ञासा भी नहीं होती, किसी करण-(अन्तःकरण और बहिःकरण-) की

१-काव्यमें भी भगवान्को ‘पुरुषोत्तम’ नामसे कहा गया है—

‘हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः’ (रघुवंश ३। ४९)

२-यहाँ भूतभावन, भूतेश, देवदेव, जगत्पते और पुरुषोत्तम—इन पाँच सम्बोधनोंको क्रमशः सूर्य, शिव, गणेश, शक्ति और विष्णु—इन ईश्वरकोटिके पाँच देवताओंका वाचक मान सकते हैं। इन सम्बोधनोंका प्रयोग करके अर्जुन भगवान्से मानो यह कहते हैं कि ये पाँचों देवता मूलतः आप ही हैं।

आवश्यकता भी नहीं होती। उनमें शरीर-शरीरीका भाव भी नहीं है। वे तो स्वतः-स्वाभाविक अपने-आपसे ही अपने-आपको जानते हैं। उनका यह ज्ञान करण-निरपेक्ष है, करण-सापेक्ष नहीं।

इस श्लोकका भाव यह है कि जैसे भगवान् अपने-आपको अपने-आपसे ही जानते हैं, ऐसे ही भगवान्के अंश

जीवको भी अपने-आपसे ही अपने-आपको अर्थात् अपने स्वरूपको जानना चाहिये। अपने-आपको अपने स्वरूपका जो ज्ञान होता है, वह सर्वथा करण-निरपेक्ष होता है। इसलिये इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे अपने स्वरूपको नहीं जान सकते। भगवान्का अंश होनेसे भगवान्की तरह जीवका अपना ज्ञान भी करण-निरपेक्ष है।

परिशिष्ट भाव—आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं—इसका तात्पर्य है कि जाननेवाले भी आप ही हैं, जाननेमें आनेवाले भी आप ही हैं और जानना भी आप ही हैं अर्थात् सब कुछ आप ही हैं। जब आपके सिवाय और कोई है ही नहीं तो फिर कौन किसको जाने?

तत्त्वको जाननेकी चेष्टा करेंगे तो तत्त्वसे दूर हो जायेंगे; क्योंकि तत्त्वको ज्ञेय (जाननेका विषय) बनायेंगे, तभी तो उसको जानना चाहेंगे! तत्त्व तो सबका ज्ञाता है, ज्ञेय नहीं। सबके ज्ञाताका कोई और ज्ञाता नहीं हो सकता। जैसे, आँखसे सबको देखते हैं, पर आँखसे आँखको नहीं देख सकते; क्योंकि आँखकी देखनेकी शक्ति इन्द्रियका विषय नहीं है अर्थात् इन्द्रियाँ खुद अतीन्द्रिय हैं^१। अतः वह परमात्मतत्त्व स्वयं ही स्वयंका ज्ञाता है।

सम्बन्ध—विभूतियोंका ज्ञान भगवान्में दृढ़ भक्ति करानेवाला है (गीता १०।७)। अतः अब आगेके तीन श्लोकोंमें अर्जुन भगवान्से विभूतियोंको विस्तारसे कहनेके लिये प्रार्थना करते हैं।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः। याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

हि	= इसलिये	लोकोंको	विभूतियोंका
याभिः	= जिन	व्याप्य	= सम्पूर्णतासे
विभूतिभिः	= विभूतियोंसे	तिष्ठसि	= वर्णन
त्वम्	= आप		करनेमें
इमान्	= इन	दिव्याः,	= (आप ही)
लोकान्	= सम्पूर्ण	आत्मविभूतयः	= अपनी दिव्य
			समर्थ हैं।

व्याख्या—‘याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि’—भगवान्ने पहले (सातवें श्लोकमें) यह बात कही थी कि जो मनुष्य मेरी विभूतियोंको और योगको तत्त्वसे जानता है, उसका मेरेमें अटल भक्तियोग हो जाता है। उसे सुननेपर अर्जुनके मनमें आया कि भगवान्में दृढ़ भक्ति होनेका यह बहुत सुगम और श्रेष्ठ उपाय है; क्योंकि भगवान्की विभूतियोंको और योगको तत्त्वसे जाननेपर मनुष्यका

मन भगवान्की तरफ स्वाभाविक ही खिंच जाता है और भगवान्में उसकी स्वाभाविक ही भक्ति जाग्रत् हो जाती है। अर्जुन अपना कल्याण चाहते हैं और कल्याणके लिये उनको भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ उपाय दीखती है। इसलिये अर्जुन कहते हैं कि जिन विभूतियोंसे आप सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं, उन अलौकिक, विलक्षण विभूतियोंका विस्तारपूर्वक सम्पूर्णतासे वर्णन कीजिये। कारण कि उनको

१-‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ (बृहदारण्यक० ३।७।२३)

‘इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है।’

‘विज्ञातारमरे केन विजानीयात्’ (बृहदारण्यक० २।४।१४)

‘सबके विज्ञाताको किसके द्वारा जाना जाय?’

२-इन्द्रियोंको देखनेवाली इन्द्रियाँ नहीं हैं, मन है। मनको देखनेवाला मन नहीं है, बुद्धि है। बुद्धिको देखनेवाली बुद्धि नहीं है, अहम् है। अहम्को देखनेवाला अहम् नहीं है, स्वयं है। स्वयंको देखनेवाला स्वयं ही है।

कहनेमें आप ही समर्थ हैं; आपके सिवाय उन विभूतियोंको और कोई नहीं कह सकता।

‘वक्तुमर्हस्यशेषेण’—आपने पहले (सातवें, नवें और यहाँ दसवें अध्यायके आरम्भमें) अपनी विभूतियाँ बतायीं और उनको जाननेका फल दृढ़ भक्तियोग होना बताया। अतः मैं भी आपकी सब विभूतियोंको जान जाऊँ और मेरा भी आपमें दृढ़ भक्तियोग हो जाय, इसलिये आप

परिशिष्ट भाव—अर्जुन भगवान्से कहते हैं कि अपनी सम्पूर्ण विभूतियोंका आप ही वर्णन कर सकते हैं; क्योंकि आप स्वयं ही अपने-आपको जानते हैं (गीता—इसी अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक)। दूसरा आपको जान ले—यह सम्भव ही नहीं है (इसी अध्यायका दूसरा और चौदहवाँ श्लोक)। अतः आप स्वयं ही अपनी पूरी-की-पूरी विभूतियोंको कह दें, जिससे मेरेको अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति हो जाय।

अपनी विभूतियोंको पूरी-की-पूरी कह दें, बाकी कुछ न रखें।

‘दिव्या ह्यात्मविभूतयः’—विभूतियोंको दिव्य कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें जो कुछ विशेषता दीखती है वह मूलमें दिव्य परमात्माकी ही है, संसारकी नहीं। अतः संसारकी विशेषता देखना भोग है और परमात्माकी विशेषता देखना विभूति है, योग है।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

योगिन् = हे योगिन्!
सदा = निरन्तर
परिचिन्तयन् = सांगोपांग चिन्तन करता हुआ
अहम् = मैं
त्वाम् = आपको

कथम् = कैसे
विद्याम् = जानूँ?
च = और
भगवन् = हे भगवन्!
केषु, केषु = किन-किन
भावेषु = भावोंमें (आप)

मया = मेरे द्वारा
चिन्त्यः, असि = चिन्तन किये जा सकते हैं अर्थात् किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ?

व्याख्या—‘कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्’—सातवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि जो मेरी विभूति और योगको तत्त्वसे जानता है, वह अविचल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है। इसलिये अर्जुन भगवान्से पूछते हैं कि हरदम चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ?

‘केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया’—आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि जो अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस योगीको मैं सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ। फिर नवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें कहा कि जो अनन्य भक्त निरन्तर मेरा चिन्तन करते रहते हैं, उनका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ। इस प्रकार चिन्तनकी महिमा सुनकर अर्जुन कहते हैं कि जिस चिन्तनसे मैं आपको तत्त्वसे जान जाऊँ, वह चिन्तन मैं कहाँ-कहाँ करूँ? किस वस्तु, व्यक्ति, देश,

काल, घटना, परिस्थिति आदिमें मैं आपका चिन्तन करूँ? [यहाँ चिन्तन करना साधन है और भगवान्को तत्त्वसे जानना साध्य है।]

यहाँ अर्जुनने तो पूछा है कि मैं कहाँ-कहाँ, किस-किस वस्तु, व्यक्ति, स्थान आदिमें आपका चिन्तन करूँ, पर भगवान्ने आगे उत्तर यह दिया है कि जहाँ-जहाँ भी तू चिन्तन करता है, वहाँ-वहाँ ही तू मेरेको समझ। तात्पर्य यह है कि मैं तो सब वस्तु, व्यक्ति, देश, काल आदिमें परिपूर्ण हूँ। इसलिये किसी विशेषता, महत्ता, सुन्दरता आदिको लेकर जहाँ-जहाँ तेरा मन जाता है, वहाँ-वहाँ मेरा ही चिन्तन कर अर्थात् वहाँ उस विशेषता आदिको मेरी ही समझ। कारण कि संसारकी विशेषताको माननेसे संसारका चिन्तन होगा, पर मेरी विशेषताको माननेसे मेरा ही चिन्तन होगा। इस प्रकार संसारका चिन्तन मेरे चिन्तनमें परिणत होना चाहिये।

परिशिष्ट भाव—अर्जुनके प्रश्नका तात्पर्य है कि हे भगवन्! आप किन-किन रूपोंमें प्रकट हुए हैं, जिन रूपोंमें मैं आपका चिन्तन कर सकूँ? अर्जुनने यह प्रश्न सुगमतापूर्वक भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे किया है। अर्जुन साधकमात्रके प्रतिनिधि हैं; अतः उनका प्रश्न साधकोंके लिये है।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णको तो जानते थे, पर उनके समग्ररूपको नहीं जानते थे। उनमें भगवान्के समग्ररूपको जाननेकी जिज्ञासा थी। इसलिये वे पूछते हैं कि मैं आपके समग्ररूपको कैसे जानूँ? किन रूपोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ? इससे सिद्ध होता है कि विभूतियाँ गौण नहीं हैं, प्रत्युत भगवत्प्राप्तिका माध्यम होनेसे मुख्य हैं। विभूतिरूपसे साक्षात् भगवान् ही हैं। जबतक मनुष्य भगवान्को नहीं जानता, तबतक उसमें गौण अथवा मुख्यकी भावना रहती है। भगवान्को जाननेपर गौण अथवा मुख्यकी भावना नहीं रहती; क्योंकि भगवान्के सिवाय कुछ है ही नहीं, फिर उसमें क्या गौण और क्या मुख्य? तात्पर्य है कि गौण अथवा मुख्य साधककी दृष्टिमें है, भगवान् और सिद्धकी दृष्टिमें नहीं।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

जनार्दन	= हे जनार्दन!	विस्तरेण	= विस्तारसे	शृण्वतः	= सुनते-सुनते
आत्मनः	= (आप) अपने	भूयः	= फिर	मे	= मेरी
योगम्	= योग-(सामर्थ्य-)	कथय	= कहिये;	तृप्तिः	= तृप्ति
	को	हि	= क्योंकि	न	= नहीं
च	= और	अमृतम्	= (आपके) अमृतमय	अस्ति	= हो
विभूतिम्	= विभूतियोंको		वचन		रही है।

व्याख्या—‘विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन’— भगवान्ने सातवें और नवें अध्यायमें ज्ञान-विज्ञानका विषय खूब कह दिया। इतना कहनेपर भी उनकी तृप्ति नहीं हुई, इसलिये दसवाँ अध्याय अपनी ओरसे ही कहना शुरू कर दिया। भगवान्ने दसवाँ अध्याय आरम्भ करते हुए कहा कि ‘तू फिर मेरे परम वचनको सुन।’ ऐसा सुनकर भगवान्की कृपा और महत्त्वकी तरफ अर्जुनकी दृष्टि विशेषतासे जाती है और वे भगवान्से फिर सुनानेके लिये प्रार्थना करते हैं। अर्जुन कहते हैं कि ‘आप अपने योग और विभूतियोंको विस्तारपूर्वक फिरसे कहिये; क्योंकि आपके अमृतमय वचन सुनते हुए तृप्ति नहीं हो रही है। मन करता है कि सुनता ही चला जाऊँ।’

भगवान्की विभूतियोंको सुननेसे भगवान्में प्रत्यक्ष आकर्षण बढ़ता देखकर अर्जुनको लगा कि इन विभूतियोंका ज्ञान होनेसे भगवान्के प्रति मेरा विशेष आकर्षण हो जायगा और भगवान्में सहज ही मेरी दृढ़ भक्ति हो जायगी। इसलिये अर्जुन विस्तारपूर्वक फिरसे कहनेके लिये प्रार्थना करते हैं।

‘भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्’— अर्जुन श्रेयका साधन चाहते हैं (गीता—दूसरे अध्यायका सातवाँ, तीसरे अध्यायका दूसरा और पाँचवें अध्यायका पहला श्लोक), और भगवान्ने विभूति एवं योगको तत्त्वसे जाननेका फल अपनेमें दृढ़ भक्ति होना बताया (गीता—

दसवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। इसलिये अर्जुनको विभूतियोंको जाननेवाली बात बहुत सरल लगी कि मेरेको कोई नया काम नहीं करना है, नया चिन्तन नहीं करना है, प्रत्युत जहाँ-कहीं विशेषता आदिको लेकर मनका स्वाभाविक खिंचाव होता है, वहीं उस विशेषताको भगवान्की मानना है। इससे मनकी वृत्तियोंका प्रवाह संसारमें न होकर भगवान्में हो जायगा, जिससे मेरी भगवान्में दृढ़ भक्ति हो जायगी और मेरा सुगमतासे कल्याण हो जायगा। कितनी सीधी, सरल और सुगम बात है! इसलिये अर्जुन विभूतियोंको फिर कहनेके लिये प्रार्थना करते हैं।

जैसे, कोई भोजन करने बैठे और भोजनमें कोई वस्तु प्रिय (बढ़िया) मालूम दे, तो उसमें उसकी रुचि बढ़ती है और वह बार-बार उस प्रिय वस्तुको माँगता है। पर उस रुचिमें दो बाधाएँ लगती हैं—एक तो वह वस्तु अगर कम मात्रामें होती है तो पूरी तृप्तिपूर्वक नहीं मिलती; और दूसरी, वह वस्तु अधिक मात्रामें होनेपर भी पेट भर जानेसे अधिक नहीं खायी जा सकती! परन्तु भगवान्की विभूतियोंका और अर्जुनकी विभूतियाँ सुननेकी रुचिका अन्त ही नहीं आता। कानोंके द्वारा अमृतमय वचनोंको सुनते हुए न तो उन वचनोंका अन्त आता है, और न उनको सुनते हुए तृप्ति ही होती है। अतः अर्जुन भगवान्से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि आप ऐसे अमृतमय वचन सुनाते ही जाइये।

परिशिष्ट भाव—जैसे भूखेको अन्न और प्यासेको जल अच्छा लगता है, ऐसे ही जिज्ञासु अर्जुनको भगवान्के वचन बहुत विलक्षण लगते हैं। उनको भगवान्के वचन ज्यों-ज्यों विलक्षण दीखते हैं, त्यों-ही-त्यों उनका भगवान्के प्रति विशेष भाव प्रकट होता जाता है^१।

सम्बन्ध—अर्जुनकी प्रार्थना स्वीकार करके भगवान् अब आगेके श्लोकसे अपनी विभूतियों और योगको कहना आरम्भ करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

**हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥**

श्रीभगवान् बोले—

हन्त	= हाँ, ठीक है।	प्राधान्यतः	= प्रधानतासे (संक्षेपसे)	मे	= मेरी विभूतियोंके
दिव्याः,		कथयिष्यामि	= कहूँगा;	विस्तरस्य	= विस्तारका
आत्मविभूतयः	= मैं अपनी दिव्य विभूतियोंको	हि	= क्योंकि	अन्तः	= अन्त
ते	= तेरे लिये	कुरुश्रेष्ठ	= हे कुरुश्रेष्ठ !	न	= नहीं
				अस्ति	= है।

व्याख्या—‘हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्म-विभूतयः’—योग और विभूति कहनेके लिये अर्जुनकी जो प्रार्थना है, उसको ‘हन्त’ अव्ययसे स्वीकार करते हुए भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी दिव्य, अलौकिक, विलक्षण विभूतियोंको तेरे लिये कहूँगा (योगकी बात भगवान्ने आगे इकतालीसवें श्लोकमें कही है)।

‘दिव्याः’ कहनेका तात्पर्य है कि जिस किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना आदिमें जो कुछ भी विशेषता दीखती है, वह वस्तुतः भगवान्की ही है। इसलिये उसको भगवान्की ही देखना दिव्यता है और वस्तु, व्यक्ति आदिकी देखना अदिव्यता अर्थात् लौकिकता है।

‘प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे’—जब अर्जुनने कहा कि भगवान्! आप अपनी विभूतियोंको विस्तारसे, पूरी-की-पूरी कह दें, तब भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी विभूतियोंको संक्षेपसे कहूँगा; क्योंकि मेरी

विभूतियोंका अन्त नहीं है। पर आगे ग्यारहवें अध्यायमें जब अर्जुन बड़े संकोचसे कहते हैं कि मैं आपका विश्वरूप देखना चाहता हूँ; अगर मेरे द्वारा वह रूप देखा जाना शक्य है तो दिखा दीजिये, तब भगवान् कहते हैं—‘पश्य मे पार्थ रूपाणि’ (११।५) अर्थात् तू मेरे रूपोंको देख ले। रूपोंमें कितने रूप? क्या दो-चार? नहीं-नहीं, सैकड़ों-हजारों रूपोंको देख! इस प्रकार यहाँ अर्जुनकी विस्तारसे विभूतियाँ कहनेकी प्रार्थना सुनकर भगवान् संक्षेपसे विभूतियाँ सुननेके लिये कहते हैं और वहाँ अर्जुनकी एक रूप दिखानेकी प्रार्थना सुनकर भगवान् सैकड़ों-हजारों रूप देखनेके लिये कहते हैं!

यह एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि सुननेमें तो आदमी बहुत सुन सकता है, पर उतना नेत्रोंसे देख नहीं सकता; क्योंकि देखनेकी शक्ति कानोंकी अपेक्षा सीमित होती है^२। फिर भी जब अर्जुनने सम्पूर्ण विभूतियोंको सुननेमें अपनी

१-द्रष्टव्य—‘गीता-दर्पण’ पुस्तकका बारहवाँ लेख—‘गीतामें भगवान्का विविध रूपोंमें प्रकट होना’।

२-कानका विषय है शब्द और शब्द दो तरहका होता है—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। कानके द्वारा शब्दोंको सुनकर हमें प्रत्यक्षका भी ज्ञान होता है और अप्रत्यक्ष-(स्वर्ग, नरक आदि-) का भी ज्ञान होता है। इसीलिये वेदान्त-प्रक्रिया-(श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदिमें) ‘श्रवण’ सबसे पहले आया है। ऐसे ही भक्तिमें भी (श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन आदिमें) ‘श्रवण’ पहले आया है। शास्त्रोंमें जिस परमात्मतत्त्वका वर्णन किया गया है, उसका ज्ञान (परोक्ष ज्ञान) हमें कानोंसे ही होता है अर्थात् कानोंसे सुनकर ही उसके अनुसार करने, मानने या जाननेसे हम उस परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करते हैं।

शब्दमें अचिन्त्य शक्ति है—

शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधीः। प्रसुप्तः पुरुषो यद्वच्छब्देनैवावबुध्यते ॥ (सदाचारानुसन्धानम् १९)

सामर्थ्य बतायी तो भगवान्ने संक्षेपसे सुननेके लिये कहा; और जब अर्जुनने एक रूपको देखनेमें नम्रतापूर्वक अपनी असमर्थता प्रकट की तो भगवान्ने अनेक रूप देखनेके लिये कहा! इसका कारण यह है कि गीतामें अर्जुनका भगवद्विषयक ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इस दसवें अध्यायमें जब भगवान्ने यह कहा कि मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है, तब अर्जुनकी दृष्टि भगवान्की अनन्तताकी तरफ चली गयी। उन्होंने समझा कि भगवान्के विषयमें तो मैं कुछ भी नहीं जानता; क्योंकि भगवान् अनन्त हैं, असीम हैं, अपार हैं। परन्तु अर्जुनने भूलसे कह दिया कि आप अपनी सब-की-सब विभूतियाँ कह दीजिये। इसलिये अर्जुन आगे चलकर सावधान हो जाते हैं और नम्रतापूर्वक एक रूपको दिखानेके लिये ही भगवान्से प्रार्थना करते हैं। नेत्रोंकी शक्ति सीमित होते हुए भी भगवान् दिव्य चक्षु प्रदान करके अर्थात् चर्मचक्षुओंमें विशेष शक्ति प्रदान करके

अपने अनेक रूपोंको देखनेकी आज्ञा देते हैं।

दूसरी बात, वक्ताकी व्यक्तिगत बात पूछी जाय और अपनी अज्ञता तथा अयोग्यतापूर्वक अपने जाननेके लिये प्रार्थना की जाय—इन दोनोंमें फरक होता है। यहाँ अर्जुनने विस्तारपूर्वक विभूतियाँ कहनेके लिये कहकर भगवान्की थाह लेनी चाही, तो भगवान्ने कह दिया कि मैं तो संक्षेपसे कहूँगा; क्योंकि मेरी विभूतियोंकी थाह नहीं है। ग्यारहवें अध्यायमें अर्जुनने अपनी अज्ञता और अयोग्यता प्रकट करते हुए भगवान्से अपना अव्यय रूप दिखानेकी प्रार्थना की, तो भगवान्ने अपने अनन्तरूप देखनेके लिये आज्ञा दी और उनको देखनेकी सामर्थ्य (दिव्य दृष्टि) भी दी! इसलिये साधकको किञ्चिन्मात्र भी अपना आग्रह, अहंकार न रखकर और अपनी सामर्थ्य, बुद्धि न लगाकर केवल भगवान्पर ही सर्वथा निर्भर हो जाना चाहिये; क्योंकि भगवान्की निर्भरतासे जो चीज मिलती है, वह अपार मिलती है।

परिशिष्ट भाव—भगवान् अनन्त हैं; अतः उनकी विभूतियाँ भी अनन्त हैं। इस कारण भगवान्की विभूतियोंके विस्तारको न तो कोई कह सकता है और न कोई सुन ही सकता है। अगर कोई कह-सुन ले तो फिर वे अनन्त कैसे रहेंगी? इसलिये भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी विभूतियोंको संक्षेपसे कहूँगा।

अर्जुनको 'कुरुश्रेष्ठ' कहनेमें भगवान्का तात्पर्य है कि तेरे मनमें मेरेको जाननेकी इच्छा हो गयी, इसलिये तू श्रेष्ठ है!

सम्बन्ध—विभूतियाँ और योग—इन दोनोंमेंसे पहले भगवान् बीसवें श्लोकसे उनतालीसवें श्लोकतक अपनी बयासी विभूतियोंका वर्णन करते हैं।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

मनुष्य सोता है तो नींदमें इन्द्रियाँ संकुचित होकर मनमें, मन संकुचित होकर बुद्धिमें और बुद्धि संकुचित होकर अज्ञान- (अविद्या-) में लीन हो जाती है। इस तरह यद्यपि नींदमें इन्द्रियाँ बहुत छिपी रहती हैं, तथापि सोये हुए आदमीका नाम लेकर पुकारा जाय तो वह जग जाता है। शब्दमें इतनी शक्ति है कि वह अविद्यामें लीन हुएको भी जगा देता है। अतः शब्दमें अनन्त शक्ति है। दृष्टि तो पदार्थतक जाकर रुक जाती है। पर शब्द केवल कानतक ही नहीं जाता, प्रत्युत स्वयंतक चला जाता है।

नेत्रोंमें रूप पकड़ा जाता है। जैसे दर्पणमें मुख देखते समय काँचके भीतर रूप चला जाता है तो उसमें मुख दिखायी देने लगता है, ऐसे ही आँखमें भी एक काँच है, जिसके भीतर पदार्थका रूप चला जाता है तो वह पदार्थ दिखायी देने लगता है। नेत्रोंमें एक विशेष शक्ति यह है कि वे पहले रूपको पकड़े हुए ही दूसरे रूपको देख लेते हैं, इसी कारण जब बिजलीसे पंखा चलता है, तब उसके तीनों पर अलग-अलग घूमनेपर भी नेत्रोंको (अलग-अलग पर घूमते दिखायी न देकर) एक चक्र-सा दिखायी देता है। ऐसे होते हुए भी कानोंमें जितनी शक्ति है, उतनी नेत्रोंमें नहीं है।

इन्द्रियाँ केवल अपने-अपने विषयोंको ही पकड़ सकती हैं, परमात्मतत्त्वको नहीं पकड़ सकतीं; क्योंकि परमात्मतत्त्व इन्द्रियोंका विषय नहीं है। परमात्मतत्त्व स्वयंका विषय है अर्थात् उसका ज्ञान स्वयंसे ही होता है। इसलिये अर्जुनने इस अध्यायमें कहा है कि आप स्वयंको स्वयंसे ही जानते हैं—'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वम्' (गीता १०।१५)। दूसरे अध्यायमें भगवान्ने बताया है कि मनमें आयी हुई सम्पूर्ण कामनाओंको छोड़नेपर मनुष्य अपनेसे ही अपने-आपमें सन्तुष्ट होता है—'प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्यार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः' (२।५५)। तात्पर्य यह हुआ कि परमात्मतत्त्वका ज्ञान करण-निरपेक्ष है। उस ज्ञानको आँखें नहीं पकड़ सकतीं, पर कान शब्दोंके द्वारा पकड़ करके स्वयंतक पहुँचा देता है।

गुडाकेश	= हे नींदको जीतनेवाले	च	= तथा	सर्वभूताशय-
	अर्जुन!	अन्तः	= अन्तमें	स्थितः
भूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंके	अहम्	= मैं	करण-(हृदय-)में स्थित
आदिः	= आदि,	एव	= ही हूँ	आत्मा
मध्यम्	= मध्य	च	= और	अहम्
				= मैं ही हूँ।

व्याख्या—[भगवान्का चिन्तन दो तरहसे होता है— (१) साधक अपना जो इष्ट मानता है, उसके सिवाय दूसरा कोई भी चिन्तन न हो। कभी हो भी जाय तो मनको वहाँसे हटाकर अपने इष्टदेवके चिन्तनमें ही लगा दे; और (२) मनमें सांसारिक विशेषताको लेकर चिन्तन हो, तो उस विशेषताको भगवान्की ही विशेषता समझे। इस दूसरे चिन्तनके लिये ही यहाँ विभूतियोंका वर्णन है। तात्पर्य है कि किसी विशेषताको लेकर जहाँ-कहीं वृत्ति जाय, वहाँ भगवान्का ही चिन्तन होना चाहिये, उस वस्तु-व्यक्तिकानहीं। इसीके लिये भगवान् विभूतियोंका वर्णन कर रहे हैं।]

‘अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च’*— यहाँ भगवान्ने अपनी सम्पूर्ण विभूतियोंका सार कहा है कि सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ। यह नियम है कि जो वस्तु उत्पत्ति-विनाशशील होती है, उसके आरम्भ और अन्तमें जो तत्त्व रहता है, वही तत्त्व उसके मध्यमें भी रहता है (चाहे दीखे या न दीखे) अर्थात् जो वस्तु जिस तत्त्वसे उत्पन्न होती है और जिसमें लीन होती है, उस वस्तुके आदि, मध्य और अन्तमें (सब समयमें) वही तत्त्व रहता है। जैसे, सोनेसे बने गहने पहले सोनारूप होते हैं और अन्तमें (गहनोंके सोनेमें लीन होनेपर) सोनारूप ही रहते हैं तथा बीचमें भी सोनारूप ही रहते हैं। केवल नाम, आकृति, उपयोग, माप, तौल आदि अलग-अलग होते हैं; और इनके अलग-अलग होते हुए भी गहने सोना ही रहते हैं। ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी आदिमें भी परमात्मस्वरूप थे और अन्तमें लीन होनेपर भी परमात्मस्वरूप रहेंगे तथा मध्यमें नाम, रूप, आकृति, क्रिया, स्वभाव आदि अलग-अलग होनेपर भी तत्त्वतः

परमात्मस्वरूप ही हैं—यह बतानेके लिये ही यहाँ भगवान्ने अपनेको सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य और अन्तमें कहा है।

भगवान्ने विभूतियोंके इस प्रकरणमें आदि, मध्य और अन्तमें—तीन जगह साररूपसे अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है। पहले इस बीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि ‘सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य और अन्तमें मैं ही हूँ;’ बीचके बत्तीसवें श्लोकमें कहा कि ‘सम्पूर्ण सर्गोंके आदि, मध्य और अन्तमें मैं ही हूँ;’ और अन्तके उनतालीसवें श्लोकमें कहा कि ‘सम्पूर्ण प्राणियोंका जो बीज है, वह मैं ही हूँ; क्योंकि मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है।’ चिन्तन करनेके लिये यही विभूतियोंका सार है। तात्पर्य यह है कि किसी विशेषता आदिको लेकर जो विभूतियाँ कही गयी हैं, उन विभूतियोंके अतिरिक्त भी जो कुछ दिखायी दे, वह भी भगवान्की ही विभूति है—यह बतानेके लिये भगवान्ने अपनेको सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें विद्यमान कहा है। तत्त्वसे सब कुछ परमात्मा ही है—‘वासुदेवः सर्वम्’—इस लक्ष्यको बतानेके लिये ही विभूतियाँ कही गयी हैं।

इस बीसवें श्लोकमें भगवान्ने प्राणियोंमें जो आत्मा है, जीवोंका जो स्वरूप है, उसको अपनी विभूति बताया है। फिर बत्तीसवें श्लोकमें भगवान्ने सृष्टिरूपसे अपनी विभूति बताया कि जो जड-चेतन, स्थावर-जंगम सृष्टि है, उसके आदिमें ‘मैं एक ही बहुत रूपोंमें हो जाऊँ’ (‘बहु स्यां प्रजायेयेति’ छान्दोग्य० ६। २। ३)।—ऐसा संकल्प करता हूँ और अन्तमें मैं ही शेष रहता हूँ—‘शिष्यते शेषसंज्ञः’ (श्रीमद्भा० १०। ३। २५)। अतः बीचमें भी सब कुछ मैं ही हूँ—‘वासुदेवः सर्वम्’ (गीता ७। १९) ‘सदसच्चाहमर्जुन’

* यहाँ ‘आदिः’ और ‘अन्तः’ शब्दका प्रयोग पुँल्लिंगमें और ‘मध्यम्’ शब्दका प्रयोग नपुंसकलिंगमें किया गया है। इसका तात्पर्य है कि आदिमें अकेले परमपुरुष भगवान् रहते हैं—‘अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः’ (गीता १०। २), और अन्तमें भी अकेले परमपुरुष भगवान् रहते हैं—‘शिष्यते शेषसंज्ञः’ (श्रीमद्भा० १०। ३। २५)। इसलिये भगवान्ने ‘आदि’ और ‘अन्त’ शब्दका प्रयोग पुँल्लिंगमें किया है। परन्तु मध्यमें अर्थात् सृष्टिके समय पुँल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग तीनों लिंगोंवाले व्यक्ति, वस्तु, पदार्थ, क्रिया, भाव आदि रहते हैं। अतः इन तीनों लिंगोंमें नपुंसकलिंग ही शेष रहता है अर्थात् नपुंसकलिंगके अन्तर्गत ही तीनों लिंग आ जाते हैं। इसलिये भगवान्ने यहाँ और आगे बत्तीसवें श्लोकमें भी ‘मध्य’ शब्दका प्रयोग नपुंसकलिंगमें किया है।

(गीता ९।१९); क्योंकि जो तत्त्व आदि और अन्तमें होता है, वही तत्त्व बीचमें होता है। अन्तमें उनतालीसवें श्लोकमें भगवान्ने बीज-(कारण-) रूपसे अपनी विभूति बतायी कि मैं ही सबका बीज हूँ, मेरे बिना कोई भी प्राणी नहीं है। इस प्रकार इन तीन जगह—तीन श्लोकोंमें मुख्य विभूतियाँ बतायी गयी हैं और अन्य श्लोकोंमें जो समुदायमें मुख्य हैं, जिनका समुदायपर आधिपत्य है, जिनमें कोई विशेषता है, उनको लेकर विभूतियाँ बतायी गयी हैं। परन्तु साधकको चाहिये कि वह इन विभूतियोंकी महत्ता, विशेषता, सुन्दरता, आधिपत्य आदिकी तरफ खयाल न करे, प्रत्युत ये सब विभूतियाँ भगवान्से ही प्रकट होती हैं, इनमें जो महत्ता आदि है, वह केवल भगवान्की है; ये विभूतियाँ भगवत्स्वरूप ही हैं—इस तरफ खयाल रखे। कारण कि अर्जुनका प्रश्न भगवान्के चिन्तनके विषयमें है

(सत्रहवाँ श्लोक), किसी वस्तु, व्यक्तिके चिन्तनके विषयमें नहीं।

‘अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः’—साधक इन विभूतियोंका उपयोग कैसे करे? इसे बताते हैं कि जब साधककी दृष्टि प्राणियोंकी तरफ चली जाय, तब वह ‘सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मारूपसे भगवान् ही हैं’—इस तरह भगवान्का चिन्तन करे। जब किसी विचारक साधककी दृष्टि सृष्टिकी तरफ चली जाय, तब वह ‘उत्पत्ति-विनाशशील और हरदम परिवर्तनशील सृष्टिके आदि, मध्य तथा अन्तमें एक भगवान् ही हैं’ इस तरह भगवान्का चिन्तन करे। कभी प्राणियोंके मूलकी तरफ उसकी दृष्टि चली जाय, तब वह ‘बीजरूपसे भगवान् ही हैं, भगवान्के बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है और हो सकता भी नहीं’—इस तरह भगवान्का चिन्तन करे।

परिशिष्ट भाव—सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें भगवान् ही हैं—इसका तात्पर्य यह है कि एक भगवान्के सिवाय और कुछ है ही नहीं अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और आत्मा उनकी विभूति है। आत्मा भगवान्की ‘परा प्रकृति’ है और अन्तःकरण ‘अपरा प्रकृति’ है (गीता—सातवें अध्यायका चौथा, पाँचवाँ श्लोक)। परा और अपरा—दोनों ही भगवान्से अभिन्न हैं।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।

मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

अहम्	= मैं	अंशुमान्	= किरणोंवाला	(और)	
आदित्यानाम्	= अदितिके पुत्रोंमें	रविः	= सूर्य हूँ।	नक्षत्राणाम्	= नक्षत्रोंका
विष्णुः	= विष्णु (वामन)	अहम्	= मैं		अधिपति
ज्योतिषाम्	= (और) प्रकाशमान वस्तुओंमें	मरुताम्	= मरुतोंका	शशी	= चन्द्रमा
		मरीचिः	= तेज	अस्मि	= हूँ।

व्याख्या—[इन विभूतियोंमें षष्ठीका प्रयोग किया गया है। षष्ठीका प्रयोग निर्धारण अर्थात् मुख्यताके अर्थमें भी होता है और सम्बन्धके अर्थमें भी। जहाँ निर्धारणमें षष्ठी होती है, वहाँ हिन्दीकी ‘में’ विभक्तिका प्रयोग होता है, और जहाँ सम्बन्धमें षष्ठी होती है, वहाँ हिन्दीकी ‘का’, ‘की’ विभक्तियोंका प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ, इस श्लोकके पूर्वार्धमें निर्धारणके अर्थमें और उत्तरार्धमें सम्बन्धके अर्थमें षष्ठीका प्रयोग हुआ है।]

‘आदित्यानामहं विष्णुः’—अदितिके धाता, मित्र आदि जितने पुत्र हैं, उनमें ‘विष्णु’ अर्थात् वामन मुख्य हैं। भगवान्ने ही वामनरूपसे अवतार लेकर दैत्योंकी सम्पत्तिको

दानरूपसे लिया और उसे अदितिके पुत्रों-(देवताओं-)को दे दिया*।

‘ज्योतिषां रविरंशुमान्’—चन्द्रमा, नक्षत्र, तारा, अग्नि आदि जितनी भी प्रकाशमान चीजें हैं, उनमें किरणोंवाला सूर्य मेरी विभूति है; क्योंकि प्रकाश करनेमें सूर्यकी मुख्यता है। सूर्यके प्रकाशसे ही सभी प्रकाशमान होते हैं।

‘मरीचिर्मरुतामस्मि’—सत्त्वज्योति, आदित्य, हरित आदि नामोंवाले जो उनचास मरुत हैं, उनका मुख्य तेज मैं हूँ। उस तेजके प्रभावसे ही इन्द्रके द्वारा दितिके गर्भके सात टुकड़े करनेपर और उन सातोंके फिर सात-सात टुकड़े करनेपर भी वे मेरे नहीं प्रत्युत एकसे उनचास हो गये।

* बारह महीनोंमें जो बारह आदित्य होते हैं, उनमें कार्तिक मासके सूर्यका नाम भी ‘विष्णु’ है।

‘नक्षत्राणामहं शशी’—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका आदि जो सत्ताईस नक्षत्र हैं, उन सबका अधिपति चन्द्रमा मैं हूँ।

इन विभूतियोंमें जो विशेषता—महत्ता है, वह वास्तवमें भगवान्की है।

[इस प्रकरणमें जिन विभूतियोंका वर्णन आया है,

उनको भगवान्ने विभूतिरूपसे ही कहा है, अवताररूपसे नहीं; जैसे—अदितिके पुत्रोंमें वामन मैं हूँ (इक्कीसवाँ श्लोक), शस्त्रधारियोंमें राम मैं हूँ (इकतीसवाँ श्लोक), वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव (कृष्ण) और पाण्डवोंमें धनंजय (अर्जुन) मैं हूँ (सैंतीसवाँ श्लोक) इत्यादि। कारण कि यहाँ प्रसंग विभूतियोंका है।]

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

वेदानाम्	= (मैं) वेदोंमें	वासवः	= इन्द्र	च	= और
सामवेदः	= सामवेद	अस्मि	= हूँ,	भूतानाम्	= प्राणियोंकी
अस्मि	= हूँ,	इन्द्रियाणाम्	= इन्द्रियोंमें	चेतना	= चेतना
देवानाम्	= देवताओंमें	मनः	= मन	अस्मि	= हूँ।
		अस्मि	= हूँ		

व्याख्या—‘वेदानां सामवेदोऽस्मि’—वेदोंकी जो ऋचाएँ स्वरसहित गायी जाती हैं, उनका नाम सामवेद है। सामवेदमें इन्द्ररूपसे भगवान्की स्तुतिका वर्णन है। इसलिये सामवेद भगवान्की विभूति है।

‘देवानामस्मि वासवः’—सूर्य, चन्द्रमा आदि जितने भी देवता हैं, उन सबमें इन्द्र मुख्य है और सबका अधिपति है। इसलिये भगवान्ने उसको अपनी विभूति बताया है।

‘इन्द्रियाणां मनश्चास्मि’—नेत्र, कान आदि सब इन्द्रियोंमें मन मुख्य है। सब इन्द्रियाँ मनके साथ रहनेसे (मनको साथमें लेकर) ही काम करती हैं। मन साथमें न

रहनेसे इन्द्रियाँ अपना काम नहीं करतीं। यदि मनका साथ न हो तो इन्द्रियोंके सामने विषय आनेपर भी विषयोंका ज्ञान नहीं होता। मनमें यह विशेषता भगवान्से ही आयी है। इसलिये भगवान्ने मनको अपनी विभूति बताया है।

‘भूतानामस्मि चेतना’—सम्पूर्ण प्राणियोंकी जो चेतना—शक्ति, प्राणशक्ति है, जिससे मरे हुए आदमीकी अपेक्षा सोये हुए आदमीमें विलक्षणता दीखती है, उसे भगवान्ने अपनी विभूति बताया है।

इन विभूतियोंमें जो विशेषता है, वह भगवान्से ही आयी है। इनकी स्वतन्त्र विशेषता नहीं है।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।

वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

रुद्राणाम्	= रुद्रोंमें	अस्मि	= मैं हूँ।	शिखरिणाम्	= शिखरवाले
शङ्करः	= शंकर	वसूनाम्	= वसुओंमें		पर्वतोंमें
च	= और	पावकः	= पवित्र करनेवाली	मेरुः	= सुमेरु
यक्षरक्षसाम्	= यक्ष-राक्षसोंमें		अग्नि	अहम्	= मैं
वित्तेशः	= कुबेर	च	= और	अस्मि	= हूँ।

व्याख्या—‘रुद्राणां शङ्करश्चास्मि’—हर, बहुरूप, त्र्यम्बक आदि ग्यारह रुद्रोंमें शम्भु अर्थात् शंकर सबके अधिपति हैं। ये कल्याण प्रदान करनेवाले और कल्याणस्वरूप हैं। इसलिये भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

‘वित्तेशो यक्षरक्षसाम्’—कुबेर यक्ष तथा राक्षसोंके अधिपति हैं और इनको धनाध्यक्षके पदपर नियुक्त किया गया है। सब यक्ष-राक्षसोंमें मुख्य होनेसे ये भगवान्की विभूति हैं।

‘वसूनां पावकश्चास्मि’—धर, ध्रुव, सोम आदि आठ

वसुओंमें अनल अर्थात् पावक (अग्नि) सबके अधिपति हैं। ये सब देवताओंको यज्ञकी हवि पहुँचानेवाले तथा भगवान्के मुख हैं। इसलिये इनको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है।

‘मेरुः शिखरिणामहम्’—सोने, चाँदी, ताँबे आदिके शिखरोंवाले जितने पर्वत हैं, उनमें सुमेरु पर्वत मुख्य है।

यह सोने तथा रत्नोंका भण्डार है। इसलिये भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है।

इस श्लोकमें जो चार विभूतियाँ कही हैं, उनमें जो कुछ विशेषता—महत्ता दीखती है, वह विभूतियोंके मूलरूप परमात्मासे ही आयी है। अतः इन विभूतियोंमें परमात्माका ही चिन्तन होना चाहिये।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।

सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

पार्थ	= हे पार्थ !	विद्धि	= समझो ।	सरसाम्	= जलाशयोंमें
पुरोधसाम्	= पुरोहितोंमें	सेनानीनाम्	= सेनापतियोंमें	सागरः	= समुद्र
मुख्यम्	= मुख्य	स्कन्दः	= कार्तिकेय	अहम्	= मैं
बृहस्पतिम्	= बृहस्पतिको	च	= और	अस्मि	= हूँ ।
माम्	= मेरा स्वरूप				

व्याख्या—‘पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्’—संसारके सम्पूर्ण पुरोहितोंमें और विद्या-बुद्धिमें बृहस्पति श्रेष्ठ हैं। ये इन्द्रके गुरु तथा देवताओंके कुलपुरोहित हैं। इसलिये भगवान्ने अर्जुनसे बृहस्पतिको अपनी विभूति जानने-(मानने-)के लिये कहा है।

‘सेनानीनामहं स्कन्दः’—स्कन्द (कार्तिकेय) शंकरजीके पुत्र हैं। इनके छः मुख और बारह हाथ हैं। ये देवताओंके सेनापति हैं और संसारके सम्पूर्ण सेनापतियोंमें श्रेष्ठ हैं। इसलिये भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

‘सरसामस्मि सागरः’—इस पृथ्वीपर जितने जलाशय हैं, उनमें समुद्र सबसे बड़ा है। समुद्र सम्पूर्ण जलाशयोंका अधिपति है और अपनी मर्यादामें रहनेवाला तथा गम्भीर है। इसलिये भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है।

यहाँ इन विभूतियोंकी जो अलौकिकता दीखती है, यह उनकी खुदकी नहीं है, प्रत्युत भगवान्की है और भगवान्से ही आयी है। अतः इनको देखनेपर भगवान्की ही स्मृति होनी चाहिये।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्येकमक्षरम् ।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

महर्षीणाम्	= महर्षियोंमें	अक्षरम्	= अक्षर अर्थात् प्रणव	जपयज्ञः	= जपयज्ञ (और)
भृगुः	= भृगु (और)	अहम्	= मैं	स्थावराणाम्	= स्थिर रहनेवालोंमें
गिराम्	= वाणियों-(शब्दों-) में	अस्मि	= हूँ ।	हिमालयः	= हिमालय
एकम्	= एक	यज्ञानाम्	= सम्पूर्ण यज्ञोंमें	अस्मि	= मैं हूँ ।

व्याख्या—‘महर्षीणां भृगुरहम्’—भृगु, अत्रि, मरीचि आदि महर्षियोंमें भृगुजी बड़े भक्त, ज्ञानी और तेजस्वी हैं। इन्होंने ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनोंकी परीक्षा करके भगवान् विष्णुको श्रेष्ठ सिद्ध किया था। भगवान् विष्णु भी अपने वक्षःस्थलपर इनके चरणचिह्नको ‘भृगुलता’ नामसे धारण किये रहते हैं। इसलिये भगवान्ने इनको

अपनी विभूति बताया है।

‘गिरामस्येकमक्षरम्’—सबसे पहले तीन मात्रा-वाला प्रणव प्रकट हुआ। फिर प्रणवसे त्रिपदा गायत्री, त्रिपदा गायत्रीसे वेद और वेदोंसे शास्त्र, पुराण आदि सम्पूर्ण वाङ्मय जगत् प्रकट हुआ। अतः इन सबका कारण होनेसे और इन सबमें श्रेष्ठ होनेसे भगवान्ने एक अक्षर—

प्रणवको अपनी विभूति बताया है। गीतामें और जगह भी इसका वर्णन आता है; जैसे—‘प्रणवः सर्ववेदेषु’ (७।८)—‘सम्पूर्ण वेदोंमें प्रणव मैं हूँ’; ‘ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥’ (८।१३) ‘जो मनुष्य ‘ॐ’—इस एक अक्षर प्रणवका उच्चारण करके और भगवान्का स्मरण करके शरीर छोड़कर जाता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है’; ‘तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः। प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्’ (१७।२४) ‘वैदिक लोगोंकी शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ प्रणवका उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं।’

‘यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि’—मन्त्रोंसे जितने यज्ञ किये जाते हैं, उनमें अनेक वस्तु-पदार्थोंकी, विधियोंकी आवश्यकता पड़ती है और उनको करनेमें कुछ-न-कुछ दोष आ ही जाता है। परन्तु जपयज्ञ अर्थात् भगवन्नामका जप करनेमें किसी पदार्थ या विधिकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसको करनेमें दोष आना तो दूर रहा, प्रत्युत सभी दोष नष्ट हो जाते हैं। इसको करनेमें सभी स्वतन्त्र हैं। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमें भगवान्के नामोंमें अन्तर तो होता है, पर नामजपसे कल्याण होता है—इसको हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन आदि सभी मानते हैं। इसलिये भगवान्ने जपयज्ञको अपनी विभूति बताया है।

‘स्थावराणां हिमालयः’—स्थिर रहनेवाले जितने भी पर्वत हैं, उन सबमें हिमालय तपस्याका स्थल होनेसे महान् पवित्र है और सबका अधिपति है। गंगा, यमुना आदि जितनी तीर्थस्वरूप पवित्र नदियाँ हैं, वे सभी प्रायः हिमालयसे प्रकट होती हैं। भगवत्प्राप्तिमें हिमालयस्थल बहुत सहायक है। आज भी दीर्घ आयुवाले बड़े-बड़े योगी और सन्तजन हिमालयकी गुफाओंमें साधन-भजन करते हैं। नर-नारायण ऋषि भी हिमालयमें जगत्के कल्याणके लिये आज भी तपस्या कर रहे हैं। हिमालय भगवान् शंकरका ससुराल है और स्वयं शंकर भी इसीके एक शिखर—कैलास पर्वतपर रहते हैं। इसीलिये भगवान्ने हिमालयको अपनी विभूति बताया है।

संसारमें जो कुछ भी विशेषता दीखती है, उसको संसारकी माननेसे मनुष्य उसमें फँस जाता है, जिससे उसका पतन होता है। परन्तु भगवान् यहाँ बहुत ही सरल साधन बताते हैं कि तुम्हारा मन जहाँ-कहाँ और जिस-किसी विशेषताको लेकर आकृष्ट होता है, वहाँ उस विशेषताको तुम मेरी समझो कि यह विशेषता भगवान्की है और भगवान्से ही आयी है, यह इस परिवर्तनशील नाशवान् संसारकी नहीं है। ऐसा समझोगे, मानोगे तो तुम्हारा वह आकर्षण मेरेमें ही होगा। तुम्हारे मनमें मेरी ही महत्ता हो जायगी। इससे संसारका चिन्तन छूटकर मेरा ही चिन्तन होगा, जिससे तुम्हारा मेरेमें प्रेम हो जायगा।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।

गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

सर्ववृक्षाणाम्	= सम्पूर्ण वृक्षोंमें	नारदः	= नारद,	सिद्धानाम्	= सिद्धोंमें
अश्वत्थः	= पीपल,	गन्धर्वाणाम्	= गन्धर्वोंमें	कपिलः	= कपिल
देवर्षीणाम्	= देवर्षियोंमें	चित्ररथः	= चित्ररथ	मुनिः	= मुनि
		च	= और		(मैं हूँ)।

व्याख्या—‘अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्’—पीपल एक सौम्य वृक्ष है। इसके नीचे हरेक पेड़ लग जाता है और यह पहाड़, मकानकी दीवार, छत आदि कठोर जगहपर भी पैदा हो जाता है। पीपल वृक्षके पूजनकी बड़ी महिमा है। आयुर्वेदमें बहुत-से रोगोंका नाश करनेकी शक्ति पीपल वृक्षमें बतायी गयी है। इन सब दृष्टियोंसे भगवान्ने पीपलको अपनी विभूति बताया है।

‘देवर्षीणां च नारदः’—देवर्षि भी कई हैं और नारद भी कई हैं; पर ‘देवर्षि नारद’ एक ही हैं। ये भगवान्के मनके

अनुसार चलते हैं और भगवान्को जैसी लीला करनी होती है, ये पहलेसे ही वैसी भूमिका तैयार कर देते हैं। इसलिये नारदजीको भगवान्का मन कहा गया है। ये सदा वीणा लेकर भगवान्के गुण गाते हुए घूमते रहते हैं। वाल्मीकि और व्यासजीको उपदेश देकर उनको रामायण और भागवत—जैसे ग्रन्थोंके लेखन-कार्यमें प्रवृत्त करनेवाले भी नारदजी ही हैं। नारदजीकी बातपर मनुष्य, देवता, असुर, नाग आदि सभी विश्वास करते हैं। सभी इनकी बात मानते हैं और इनसे सलाह लेते हैं। महाभारत आदि ग्रन्थोंमें इनके अनेक गुणोंका वर्णन

किया गया है। यहाँ भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

‘गन्धर्वाणां चित्ररथः’—स्वर्गके गायकोंको गन्धर्व कहते हैं और उन सभी गन्धर्वोंमें चित्ररथ मुख्य हैं। अर्जुनके साथ इनकी मित्रता रही और इनसे ही अर्जुनने गानविद्या सीखी थी। गानविद्यामें अत्यन्त निपुण और गन्धर्वोंमें मुख्य होनेसे भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

‘सिद्धानां कपिलो मुनिः’—सिद्ध दो तरहके होते हैं—एक तो साधन करके सिद्ध बनते हैं और दूसरे

जन्मजात सिद्ध होते हैं। कपिलजी जन्मजात सिद्ध हैं और इनको आदिसिद्ध कहा जाता है। ये कर्दमजीके यहाँ देवहूतिके गर्भसे प्रकट हुए थे। ये सांख्यके आचार्य और सम्पूर्ण सिद्धोंके गणाधीश हैं। इसलिये भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

इन सब विभूतियोंमें जो विलक्षणता प्रतीत होती है, वह मूलतः, तत्त्वतः भगवान्की ही है। अतः साधककी दृष्टि भगवान्में ही रहनी चाहिये।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् । ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

अश्वानाम्	= घोड़ोंमें	उच्चैःश्रवसम्	= उच्चैःश्रवा नामक घोड़ेको,	च	= और
अमृतोद्भवम्	= अमृतके साथ समुद्रसे प्रकट होनेवाले	गजेन्द्राणाम्	= श्रेष्ठ हाथियोंमें	नराणाम्	= मनुष्योंमें
		ऐरावतम्	= ऐरावत नामक हाथीको	नराधिपम्	= राजाको
				माम्	= मेरी विभूति
				विद्धि	= मानो।

व्याख्या—‘उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्’—समुद्रमन्थनके समय प्रकट होनेवाले चौदह रत्नोंमें उच्चैःश्रवा घोड़ा भी एक रत्न है। यह इन्द्रका वाहन और सम्पूर्ण घोड़ोंका राजा है। इसलिये भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है।

‘ऐरावतं गजेन्द्राणाम्’—हाथियोंके समुदायमें जो श्रेष्ठ होता है, उसको गजेन्द्र कहते हैं। ऐसे गजेन्द्रोंमें भी ऐरावत हाथी श्रेष्ठ है। उच्चैःश्रवा घोड़ेकी तरह ऐरावत हाथीकी उत्पत्ति भी समुद्रसे हुई है और यह भी इन्द्रका वाहन

है। इसलिये भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है।

‘नराणां च नराधिपम्’—सम्पूर्ण प्रजाका पालन, संरक्षण, शासन करनेवाला होनेसे राजा सम्पूर्ण मनुष्योंमें श्रेष्ठ है। साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा राजामें भगवान्की ज्यादा शक्ति रहती है। इसलिये भगवान्ने राजाको अपनी विभूति बताया है*।

इन विभूतियोंमें जो बलवत्ता, सामर्थ्य है, वह भगवान्से ही आयी है, अतः उसको भगवान्की ही मानकर भगवान्का चिन्तन करना चाहिये।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् । प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

आयुधानाम्	= आयुधोंमें	अस्मि	= हूँ।	अस्मि	= मैं हूँ
वज्रम्	= वज्र (और)	प्रजनः	= सन्तान-उत्पत्तिका हेतु	च	= और
धेनूनाम्	= धेनुओंमें	कन्दर्पः	= कामदेव	सर्पाणाम्	= सर्पोंमें
कामधुक्	= कामधेनु			वासुकिः	= वासुकि
अहम्	= मैं			अस्मि	= मैं हूँ।

व्याख्या—‘आयुधानामहं वज्रम्’—जिनसे युद्ध किया जाता है, उनको आयुध (अस्त्र-शस्त्र) कहते हैं। उन

आयुधोंमें इन्द्रका वज्र मुख्य है। यह दधीचि ऋषिकी हड्डियोंसे बना हुआ है और इसमें दधीचि ऋषिकी तपस्याका

* यहाँ वर्तमान मन्वन्तरके मनुको भी राजा मान सकते हैं।

तेज है। इसलिये भगवान्ने वज्रको अपनी विभूति कहा है।
 'धेनूनामस्मि कामधुक्'—नयी ब्यायी हुई गायको धेनु कहते हैं। सभी धेनुओंमें कामधेनु मुख्य है, जो समुद्र-मन्थनसे प्रकट हुई थी। यह सम्पूर्ण देवताओं और मनुष्योंकी कामनापूर्ति करनेवाली है। इसलिये यह भगवान्की विभूति है।

'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः'—संसारमात्रकी उत्पत्ति कामसे ही होती है। धर्मके अनुकूल केवल सन्तानकी उत्पत्तिके लिये सुखबुद्धिका त्याग करके जिस कामका उपयोग किया जाता है, वह काम भगवान्की विभूति है। सातवें

अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भी भगवान्ने कामको अपनी विभूति बताया है—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ' अर्थात् सब प्राणियोंमें धर्मके अनुकूल काम मैं हूँ।

'सर्पाणामस्मि वासुकिः'—वासुकि सम्पूर्ण सर्पोंके अधिपति और भगवान्के भक्त हैं। समुद्र-मन्थनके समय इन्हींकी मन्थन-डोरी बनायी गयी थी। इसलिये भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

इन विभूतियोंमें जो विलक्षणता दिखायी देती है, वह प्रतिक्षण परिवर्तनशील संसारकी हो ही कैसे सकती है! वह तो परमात्माकी ही है।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् । पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

नागानाम्	= नागोंमें	अधिपति	च	= और
अनन्तः	= अनन्त (शेषनाग)	वरुणः	संयमताम्	= शासन करनेवालोंमें
च	= और	अहम्	यमः	= यमराज
यादसाम्	= जल- जन्तुओंका	अस्मि	अहम्	= मैं
		पितृणाम्	अस्मि	= हूँ।
		अर्यमा		
				= अर्यमा

व्याख्या—'अनन्तश्चास्मि नागानाम्'—शेषनाग सम्पूर्ण नागोंके राजा हैं*। इनके एक हजार फण हैं। ये क्षीरसागरमें सदा भगवान्की शय्या बनकर भगवान्को सुख पहुँचाते रहते हैं। ये अनेक बार भगवान्के साथ अवतार लेकर उनकी लीलामें शामिल हुए हैं। इसलिये भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

'वरुणो यादसामहम्'—वरुण सम्पूर्ण जल-जन्तुओंके तथा जल-देवताओंके अधिपति हैं और भगवान्के भक्त हैं। इसलिये भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

'पितृणामर्यमा चास्मि'—कव्यवाह, अनल, सोम आदि सात पितृगण हैं। इन सबमें अर्यमा नामवाले

पितर मुख्य हैं। इसलिये भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

'यमः संयमतामहम्'—प्राणियोंपर शासन करनेवाले राजा आदि जितने भी अधिकारी हैं, उनमें यमराज मुख्य हैं। ये प्राणियोंको उनके पाप-पुण्योंका फल भुगताकर शुद्ध करते हैं। इनका शासन न्याय और धर्मपूर्वक होता है। ये भगवान्के भक्त और लोकपाल भी हैं। इसलिये भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

इन विभूतियोंमें जो विलक्षणता दीखती है, वह इनकी व्यक्तिगत नहीं है। वह तो भगवान्से ही आयी है और भगवान्की ही है। अतः इनमें भगवान्का ही चिन्तन होना चाहिये।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् । मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

* सर्प पृथ्वीपर रहता है और नाग जलमें रहता है—यही सर्प और नागमें अन्तर है।

दैत्यानाम्	= दैत्योंमें	कालः	= काल	मृगेन्द्रः	= सिंह
प्रह्लादः	= प्रह्लाद	अहम्	= मैं	च	= और
च	= और	अस्मि	= हूँ	पक्षिणाम्	= पक्षियोंमें
कलयताम्	= गणना करनेवालों- (ज्योतिषियों-)में	च	= तथा	वैनतेयः	= गरुड़
		मृगाणाम्	= पशुओंमें	अहम्	= मैं हूँ।

व्याख्या—‘प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम्’—जो दितिसे उत्पन्न हुए हैं, उनको दैत्य कहते हैं। उन दैत्योंमें प्रह्लादजी मुख्य हैं और श्रेष्ठ हैं। ये भगवान्के परम विश्वासी और निष्काम प्रेमी भक्त हैं। इसलिये भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

प्रह्लादजी तो बहुत पहले हो चुके थे, पर भगवान्ने ‘दैत्योंमें प्रह्लाद मैं हूँ’ ऐसा वर्तमानका प्रयोग किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्के भक्त नित्य रहते हैं और श्रद्धा-भक्तिके अनुसार दर्शन भी दे सकते हैं। उनके भगवान्में लीन हो जानेके बाद अगर कोई उनको याद करता है और उनके दर्शन चाहता है, तो उनका रूप धारण करके भगवान् दर्शन देते हैं।

‘कालः कलयतामहम्’—ज्योतिष-शास्त्रमें काल- (समय-)से ही आयुकी गणना होती है। इसलिये क्षण,

घड़ी, दिन, पक्ष, मास, वर्ष आदि गणना करनेके साधनोंमें काल भगवान्की विभूति है।

‘मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहम्’—बाघ, हाथी, चीता, रीछ आदि जितने भी पशु हैं, उन सबमें सिंह बलवान्, तेजस्वी, प्रभावशाली, शूरवीर और साहसी है। यह सब पशुओंका राजा है। इसलिये भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है।

‘वैनतेयश्च पक्षिणाम्’—विनताके पुत्र गरुड़जी सम्पूर्ण पक्षियोंके राजा हैं और भगवान्के भक्त हैं। ये भगवान् विष्णुके वाहन हैं और जब ये उड़ते हैं, तब इनके पंखोंसे स्वतः सामवेदकी ऋचाएँ ध्वनित होती हैं। इसलिये भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

इन सब विभूतियोंमें अलग-अलग रूपसे जो मुख्यता बतायी गयी है, वह तत्त्वतः भगवान्की ही है। इसलिये इनकी ओर दृष्टि जाते ही स्वतः भगवान्का चिन्तन होना चाहिये।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।

झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

पवताम्	= पवित्र करनेवालोंमें	अहम्	= मैं	अस्मि	= मैं हूँ
पवनः	= वायु (और)	अस्मि	= हूँ।	च	= और
शस्त्रभृताम्	= शस्त्रधारियोंमें	झषाणाम्	= जल- जन्तुओंमें	स्रोतसाम्	= नदियोंमें
रामः	= राम	मकरः	= मगर	जाह्नवी	= गंगाजी
				अस्मि	= मैं हूँ।

व्याख्या—‘पवनः पवतामस्मि’—वायुसे ही सब चीजें पवित्र होती हैं। वायुसे ही नीरोगता आती है। अतः भगवान्ने पवित्र करनेवालोंमें वायुको अपनी विभूति बताया है।

‘रामः शस्त्रभृतामहम्’—ऐसे तो राम अवतार हैं, साक्षात् भगवान् हैं, पर जहाँ शस्त्रधारियोंकी गणना होती है, उन सबमें राम श्रेष्ठ हैं। इसलिये भगवान्ने रामको अपनी विभूति बताया है।

‘झषाणां मकरश्चास्मि’—जल-जन्तुओंमें मगर सबसे बलवान् है। इसलिये जलचरोंमें मगरको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है।

‘स्रोतसामस्मि जाह्नवी’—प्रवाहरूपसे बहनेवाले जितने भी नद, नदी, नाले, झरने हैं, उन सबमें गंगाजी श्रेष्ठ हैं। ये भगवान्की खास चरणोदक हैं। गंगाजी अपने दर्शन, स्पर्श आदिसे दुनियाका उद्धार करनेवाली हैं। मरे हुए मनुष्योंकी अस्थियाँ गंगाजीमें डालनेसे उनकी सद्गति हो जाती है। इसलिये भगवान्ने इनको अपनी विभूति बताया है।

वास्तवमें इन विभूतियोंकी मुख्यता न मानकर भगवान्की ही मुख्यता माननी चाहिये। कारण कि इन सबमें जो विशेषता-महत्ता देखनेमें आती है, वह भगवान्से ही आयी है।

सत्रहवें श्लोकमें अर्जुनके दो प्रश्न थे—पहला, भगवान्को जाननेका (मैं आपको कैसे जानूँ) और दूसरा,

जाननेके उपायका (किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ)। इन दोनोंमेंसे उपाय तो है—विभूतियोंमें भगवान्का चिन्तन करना और उस चिन्तनका फल (परिणाम) होगा—सब विभूतियोंके मूलमें भगवान्को तत्त्वसे जानना। जैसे, शस्त्रधारियोंमें श्रीरामको और वृष्णियोंमें वासुदेव-(अपने-) को भगवान्ने अपनी विभूति बताया। यह तो उस समुदायमें विभूतिरूपसे श्रीरामका और वासुदेवका चिन्तन करनेके लिये बताया और उनके चिन्तनका फल होगा—श्रीरामको और वासुदेवको तत्त्वसे भगवान् जान जाना। यह चिन्तन करना और भगवान्को तत्त्वसे जानना सभी विभूतियोंके विषयमें समझना चाहिये।

संसारमें जहाँ-कहीं भी जो कुछ विशेषता, विलक्षणता, सुन्दरता दीखती है, उसको वस्तु-व्यक्तिकी माननेसे फँसावट होती है अर्थात् मनुष्य उस विशेषता आदिको संसारकी मानकर उसमें फँस जाता है। इसलिये भगवान्ने यहाँ मनुष्य-मात्रके लिये यह बताया है कि तुमलोग उस विशेषता सुन्दरता आदिको वस्तु-व्यक्तिकी मत मानो, प्रत्युत मेरी और मेरेसे ही आयी हुई मानो। ऐसा मानकर मेरा चिन्तन करोगे तो तुम्हारा संसारका चिन्तन तो छूट जायगा और उस जगह मैं आ जाऊँगा। इसका परिणाम यह होगा कि तुमलोग मेरेको तत्त्वसे जान जाओगे। मेरेको तत्त्वसे जाननेपर मेरेमें तुम्हारी दृढ़ भक्ति हो जायगी (गीता—इसी अध्यायका सातवाँ श्लोक)।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।

अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

अर्जुन = हे अर्जुन!
सर्गाणाम् = सम्पूर्ण सृष्टियोंके
आदिः = आदि,
मध्यम् = मध्य
च = तथा
अन्तः = अन्तमें

अहम् = मैं
एव = ही हूँ।
विद्यानाम् = विद्याओंमें
अध्यात्मविद्या = अध्यात्मविद्या
(ब्रह्मविद्या)
च = और

प्रवदताम् = परस्पर शास्त्रार्थ करनेवालोंका
वादः = (तत्त्व-निर्णयके लिये किया जानेवाला) वाद
अहम् = मैं हूँ।

व्याख्या—‘सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहम्’—जितने सर्ग और महासर्ग होते हैं अर्थात् जितने प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, उनके आदिमें भी मैं रहता हूँ, उनके मध्यमें भी मैं रहता हूँ और उनके अन्तमें (उनके लीन होनेपर) भी मैं रहता हूँ। तात्पर्य है कि सब कुछ वासुदेव ही है। अतः मात्र संसारको, प्राणियोंको देखते ही भगवान्की याद आनी चाहिये।

‘अध्यात्मविद्या विद्यानाम्’—जिस विद्यासे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, वह ‘अध्यात्मविद्या’ कहलाती है*। दूसरी सांसारिक कितनी ही विद्याएँ पढ़ लेनेपर भी पढ़ना बाकी ही रहता है; परन्तु इस अध्यात्मविद्याके प्राप्त होनेपर पढ़ना अर्थात् जानना बाकी नहीं रहता। इसलिये भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है।

‘वादः प्रवदतामहम्’—आपसमें जो शास्त्रार्थ किया जाता है, वह तीन प्रकारका होता है—

(१) जल्प—युक्ति-प्रयुक्तिसे अपने पक्षका मण्डन और दूसरे पक्षका खण्डन करके अपने पक्षकी जीत और दूसरे पक्षकी हार करनेकी भावनासे जो शास्त्रार्थ किया जाता है, उसको जल्प कहते हैं।

(२) वितण्डा—अपना कोई भी पक्ष न रखकर केवल दूसरे पक्षका खण्डन-ही-खण्डन करनेके लिये जो शास्त्रार्थ किया जाता है, उसको ‘वितण्डा’ कहते हैं।

(३) वाद—बिना किसी पक्षपातके केवल तत्त्व-निर्णयके लिये आपसमें जो शास्त्रार्थ (विचार-विनिमय) किया जाता है उसको ‘वाद’ कहते हैं।

उपर्युक्त तीनों प्रकारके शास्त्रार्थोंमें ‘वाद’ श्रेष्ठ है। इसी वादको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है।

* अध्यात्मविद्या और राजविद्या—इन दोनोंमें अन्तर है। अध्यात्मविद्यामें निर्गुण-स्वरूपकी मुख्यता है और राजविद्यामें सगुण-स्वरूपकी मुख्यता है। संसारका अभाव करके निर्गुण परमात्माको जानना अध्यात्मविद्या है। सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदिमें व्यापकरूपसे नित्य-निरन्तर रहनेवाले सगुण परमात्माको जानना राजविद्या है।

परिशिष्ट भाव—लौकिक विद्याओंमें 'अध्यात्मविद्या' अर्थात् आत्मज्ञान श्रेष्ठ है। इसीको गीताके अध्यायोंकी पुष्पिकामें 'ब्रह्मविद्या' कहा गया है।

अध्यात्मविद्या अर्थात् आत्मज्ञानको अपनी विभूति बतानेका कारण है कि यह सबसे सरल है, सबसे सुगम है और सबके प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। इसको करनेमें, समझनेमें और पानेमें कोई कठिनता है ही नहीं। इसमें करना, समझना और पाना लागू होता ही नहीं। कारण कि यह नित्यप्राप्त है और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सदा ज्यों-का-त्यों मौजूद है। आत्मज्ञान जितना प्रत्यक्ष है, उतना प्रत्यक्ष यह संसार भी नहीं है। तात्पर्य है कि हमारे अनुभवमें आत्मज्ञान जितना स्पष्ट आता है, उतना स्पष्ट संसार नहीं आता। इस बातको इस प्रकार समझना चाहिये। हम अपने बालकपनको देखें और वर्तमान अवस्थाको देखें तो शरीर वही नहीं रहा, आदत वही नहीं रही, भाषा वही नहीं रही, व्यवहार वही नहीं रहा, स्थान वही नहीं रहा, समय वही नहीं रहा, साथी वही नहीं रहे, क्रियाएँ वही नहीं रहीं, विचार वही नहीं रहे; सब कुछ बदल गया, पर सत्तारूपसे हम स्वयं नहीं बदले, तभी हम कहते हैं कि 'मैं तो वही हूँ, जो बालकपनमें था'। तात्पर्य यह हुआ कि जो बदल गया, वह अलग स्वभाववाला है और जो नहीं बदला, वह अलग स्वभाववाला है। जो नहीं बदला, वह हमारा असली स्वरूप अर्थात् शरीरी है और जो बदल गया, वह शरीर है। यह आत्मज्ञान है।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।

अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

अक्षराणाम्	= अक्षरोंमें	अस्मि	= हूँ।	मुखवाला
अकारः	= अकार	अक्षयः, कालः	= अक्षयकाल	धाता = धाता (सबका
च	= और		अर्थात्	पालन-
सामासिकस्य	= समासोंमें		कालका भी	पोषण
द्वन्द्वः	= द्वन्द्व समास		महाकाल (तथा)	करनेवाला भी)
अहम्	= मैं	विश्वतोमुखः	= सब ओर	अहम्, एव = मैं ही हूँ।

व्याख्या—'अक्षराणामकारोऽस्मि'—वर्णमालामें सर्वप्रथम अकार आता है। स्वर और व्यंजन—दोनोंमें अकार मुख्य है। अकारके बिना व्यंजनोंका उच्चारण नहीं होता। इसलिये अकारको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है।

'द्वन्द्वः सामासिकस्य च'—जिससे दो या दोसे अधिक शब्दोंको मिलाकर एक शब्द बनता है, उसको समास कहते हैं। समास कई तरहके होते हैं। उनमें अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि और द्वन्द्व—ये चार मुख्य हैं। दो शब्दोंके समासमें यदि पहला शब्द प्रधानता रखता है तो वह 'अव्ययीभाव समास' होता है। यदि आगेका शब्द प्रधानता रखता है तो वह 'तत्पुरुष समास' होता है। यदि दोनों शब्द अन्यके वाचक होते हैं तो वह 'बहुव्रीहि समास' होता है। यदि दोनों

शब्द प्रधानता रखते हैं तो वह 'द्वन्द्व समास' होता है।

द्वन्द्व समासमें दोनों शब्दोंका अर्थ मुख्य होनेसे भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है।

'अहमेवाक्षयः कालः'—जिस कालका कभी क्षय नहीं होता अर्थात् जो कालातीत है और अनादि-अनन्तरूप है, वह काल भगवान् ही हैं।

सर्ग और प्रलयकी गणना तो सूर्यसे होती है, पर महाप्रलयमें जब सूर्य भी लीन हो जाता है, तब समयकी गणना परमात्मासे ही होती है*। इसलिये परमात्मा अक्षय काल हैं।

तीसवें श्लोकके 'कालः कलयतामहम्' पदोंमें आये 'काल'में और यहाँ आये 'अक्षय काल'में क्या अन्तर है? वहाँका जो 'काल' है, वह एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता,

* महाप्रलयमें ब्रह्माजी लीन हो जाते हैं। महासर्गका अर्थात् ब्रह्माजीकी आयुका जितना समय होता है, उतना ही समय महाप्रलयका होता है। अतः इतने लम्बे (महाप्रलयके) समयकी गणना अक्षयकालरूप परमात्मासे ही होती है।

बदलता रहता है। वह काल ज्योतिष-शास्त्रका आधार है और उसीसे संसारमात्रके समयकी गणना होती है। परन्तु यहाँका जो 'अक्षय काल' है, वह परमात्मस्वरूप होनेसे कभी बदलता नहीं। वह अक्षयकाल सबको खा जाता है और स्वयं ज्यों-का-त्यों ही रहता है अर्थात् इसमें कभी कोई विकार नहीं होता। उसी अक्षयकालको यहाँ भगवान्ने अपनी विभूति बताया है। आगे ग्यारहवें अध्यायमें भी भगवान्ने 'कालोऽस्मि' (११।३२) पदसे अक्षय कालको

अपना स्वरूप बताया है।

'धाताहं विश्वतोमुखः'—सब ओर मुखवाले होनेसे भगवान्की दृष्टि सभी प्राणियोंपर रहती है। अतः सबका धारण-पोषण करनेमें भगवान् बहुत सावधान रहते हैं। किस प्राणीको कौन-सी वस्तु कब मिलनी चाहिये, इसका भगवान् खूब खयाल रखते हैं और समयपर उस वस्तुको पहुँचा देते हैं। इसलिये भगवान्ने अपना विभूतिरूपसे वर्णन किया है।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।

कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

सर्वहरः	= सबका हरण करनेवाली	अहम्	= मैं हूँ	स्मृतिः	= स्मृति,
मृत्युः	= मृत्यु	च	= तथा	मेधा	= मेधा,
च	= और	नारीणाम्	= स्त्री-जातिमें	धृतिः	= धृति
भविष्यताम्	= भविष्यमें	कीर्तिः	= कीर्ति,	च	= और
उद्भवः	= उत्पन्न होनेवाला	श्रीः	= श्री,	क्षमा	= क्षमा
		वाक्	= वाक् (वाणी),		(मैं हूँ)।

व्याख्या—'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्'—मृत्युमें हरण करनेकी ऐसी विलक्षण सामर्थ्य है कि मृत्युके बाद यहाँकी स्मृतितक नहीं रहती, सब कुछ अपहृत हो जाता है। वास्तवमें यह सामर्थ्य मृत्युकी नहीं है, प्रत्युत परमात्माकी है।

अगर सम्पूर्णका हरण करनेकी, विस्मृत करनेकी भगवत्प्रदत्त सामर्थ्य मृत्युमें न होती तो अपनेपनके सम्बन्धको लेकर जैसी चिन्ता इस जन्ममें मनुष्यको होती है, वैसी ही चिन्ता पिछले जन्मके सम्बन्धको लेकर भी होती। मनुष्य न जाने कितने जन्म ले चुका है। अगर उन जन्मोंकी याद रहती तो मनुष्यकी चिन्ताओंका, उसके मोहका कभी अन्त आता ही नहीं। परन्तु मृत्युके द्वारा विस्मृति होनेसे पूर्वजन्मोंके कुटुम्ब, सम्पत्ति आदिकी चिन्ता नहीं होती। इस तरह मृत्युमें जो चिन्ता, मोह मिटानेकी सामर्थ्य है, वह सब भगवान्की ही है।

उद्भवश्च भविष्यताम्—जैसे पूर्वश्लोकमें भगवान्ने बताया कि सबका धारण-पोषण करनेवाला मैं ही हूँ, वैसे ही यहाँ बताते हैं कि सब उत्पन्न होनेवालोंकी उत्पत्तिका हेतु भी मैं ही हूँ। तात्पर्य है कि संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाला मैं ही हूँ।

'कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा'—कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये सातों

संसारभरकी स्त्रियोंमें श्रेष्ठ मानी गयी हैं। इनमेंसे कीर्ति, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये पाँच प्रजापति दक्षकी कन्याएँ हैं, 'श्री' महर्षि भृगुकी कन्या है और 'वाक्' ब्रह्माजीकी कन्या है।

कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये सातों स्त्रीवाचक नामवाले गुण भी संसारमें प्रसिद्ध हैं। सद्गुणोंको लेकर संसारमें जो प्रसिद्धि है, प्रतिष्ठा है, उसे 'कीर्ति' कहते हैं।

स्थावर और जंगम—यह दो प्रकारका ऐश्वर्य होता है। जमीन, मकान, धन, सम्पत्ति आदि स्थावर ऐश्वर्य हैं और गाय, भैंस, घोड़ा, ऊँट, हाथी आदि जंगम ऐश्वर्य हैं। इन दोनों ऐश्वर्योंको 'श्री' कहते हैं।

जिस वाणीको धारण करनेसे संसारमें यश-प्रतिष्ठा होती है और जिससे मनुष्य पण्डित, विद्वान् कहलाता है, उसे 'वाक्' कहते हैं।

पुरानी सुनी-समझी बातकी फिर याद आनेका नाम 'स्मृति' है।

बुद्धिकी जो स्थायीरूपसे धारण करनेकी शक्ति है अर्थात् जिस शक्तिसे विद्या ठीक तरहसे याद रहती है, उस शक्तिका नाम 'मेधा' है।

मनुष्यको अपने सिद्धान्त, मान्यता आदिपर डटे रखने

तथा उनसे विचलित न होने देनेकी शक्तिका नाम 'धृति' है। दूसरा कोई बिना कारण अपराध कर दे, तो अपनेमें दण्ड देनेकी शक्ति होनेपर भी उसे दण्ड न देना और उसे लोक-परलोकमें कहीं भी उस अपराधका दण्ड न मिले—इस तरहका भाव रखते हुए उसे माफ कर देनेका नाम 'क्षमा' है।

कीर्ति, श्री और वाक्—ये तीन प्राणियोंके बाहर प्रकट होनेवाली विशेषताएँ हैं तथा स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये चार प्राणियोंके भीतर प्रकट होनेवाली विशेषताएँ हैं। इन सातों विशेषताओंको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है।

यहाँ जो विशेष गुणोंको विभूतिरूपसे कहा है, उसका तात्पर्य केवल भगवान्की तरफ लक्ष्य करानेमें है। किसी व्यक्तिमें ये गुण दिखायी दें तो उस व्यक्तिकी विशेषता न मानकर भगवान्की ही विशेषता माननी चाहिये और भगवान्की ही याद आनी चाहिये। यदि ये गुण अपनेमें दिखायी दें तो इनको भगवान्के ही मानने चाहिये, अपने

नहीं। कारण कि यह दैवी-(भगवान्की-) सम्पत्ति है, जो भगवान्से ही प्रकट हुई है। इन गुणोंको अपना मान लेनेसे अभिमान पैदा होता है, जिससे पतन हो जाता है; क्योंकि अभिमान सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्तिका जनक है।

साधकोंको जिस-किसीमें जो कुछ विशेषता, सामर्थ्य दीखे, उसे उस वस्तु-व्यक्तिका न मानकर भगवान्की ही मानना चाहिये। जैसे, लोमश ऋषिके शापसे काकभुशुण्डि ब्राह्मणसे चाण्डाल पक्षी बन गये, पर उनको न भय हुआ, न किसी प्रकारकी दीनता आयी और न कोई विचार ही हुआ, प्रत्युत उनको प्रसन्नता ही हुई। कारण कि उन्होंने इसमें ऋषिका दोष न मानकर भगवान्की प्रेरणा ही मानी—सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन ॥ (मानस ७।११३।१)। ऐसे ही मनुष्य सब वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिके मूलमें भगवान्को देखने लगे तो हर समय आनन्द-ही-आनन्द रहेगा।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।

मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

साम्नाम् = गायी जानेवाली
श्रुतियोंमें
बृहत्साम = बृहत्साम
तथा = और

छन्दसाम् = सब छन्दोंमें
गायत्री = गायत्री छन्द
अहम् = मैं हूँ।
मासानाम् = बारह महीनोंमें

मार्गशीर्षः = मार्गशीर्ष (और)
ऋतूनाम् = छः ऋतुओंमें
कुसुमाकरः = वसन्त
अहम् = मैं हूँ।

व्याख्या—'बृहत्साम तथा साम्नाम्'—सामवेदमें बृहत्साम नामक एक गीति है। इसके द्वारा इन्द्ररूप परमेश्वरकी स्तुति की गयी है। अतिरात्रयागमें यह एक पृष्ठस्तोत्र है। सामवेदमें सबसे श्रेष्ठ होनेसे इस बृहत्सामको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है*।

'गायत्री छन्दसामहम्'—वेदोंकी जितनी छन्दोबद्ध ऋचाएँ हैं, उनमें गायत्रीकी मुख्यता है। गायत्रीको वेद-जननी कहते हैं; क्योंकि इसीसे वेद प्रकट हुए हैं। स्मृतियों और शास्त्रोंमें गायत्रीकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है। गायत्रीमें स्वरूप, प्रार्थना और ध्यान—तीनों परमात्माके ही होनेसे इससे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है। इसलिये भगवान्ने गायत्रीको अपनी विभूति बताया है।

'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्'—जिस अन्नसे सम्पूर्ण

प्रजा जीवित रहती है, उस (वर्षासे होनेवाले) अन्नकी उत्पत्ति मार्गशीर्ष महीनेमें होती है। इस महीनेमें नये अन्नसे यज्ञ भी किया जाता है। महाभारत-कालमें नया वर्ष मार्गशीर्षसे ही आरम्भ होता था। इन विशेषताओंके कारण भगवान्ने मार्गशीर्षको अपनी विभूति बताया है।

'ऋतूनां कुसुमाकरः'—वसन्त-ऋतुमें बिना वर्षाके ही वृक्ष, लता आदि पत्र-पुष्पोंसे युक्त हो जाते हैं। इस ऋतुमें न अधिक गरमी रहती है और न अधिक सरदी। इसलिये भगवान्ने वसन्त-ऋतुको अपनी विभूति कहा है।

इन सब विभूतियोंमें जो महत्ता, विशेषता दीखती है, वह केवल भगवान्की ही है। अतः चिन्तन केवल भगवान्का ही होना चाहिये।

* इस (दसवें) अध्यायके बाईसवें श्लोकमें भगवान्ने वेदोंमें 'सामवेद' को अपनी विभूति बताया है और यहाँ (पैंतीसवें श्लोकमें) भगवान्ने सामवेदमें भी 'बृहत्साम' को अपनी विभूति बताया है।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् । जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

छलयताम्	= छल करनेवालोंमें	अस्मि	= हूँ ।	सत्त्ववताम्	= (और) सात्त्विक
द्यूतम्	= जुआ (और)	जयः	= (जीतनेवालोंकी) विजय	मनुष्योंका	
तेजस्विनाम्	= तेजस्वियोंमें	अस्मि	= मैं हूँ ।	सत्त्वम्	= सात्त्विक
तेजः	= तेज	व्यवसायः	= (निश्चय करने- वालोंका) निश्चय	अहम्	= मैं
अहम्	= मैं			अस्मि	= हूँ ।

व्याख्या—‘द्यूतं छलयतामस्मि’—छल करके दूसरोंके राज्य, वैभव, धन, सम्पत्ति आदिका (सर्वस्वका) अपहरण करनेकी विशेष सामर्थ्य रखनेवाली जो विद्या है, उसको जुआ कहते हैं। इस जुआको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है।

शंका—यहाँ भगवान्ने छल करनेवालोंमें जुआको अपनी विभूति बताया है तो फिर इसके खेलनेमें क्या दोष है? अगर दोष नहीं है तो फिर शास्त्रोंने इसका निषेध क्यों किया है।

समाधान—‘ऐसा करो और ऐसा मत करो’—यह शास्त्रोंका विधि-निषेध कहलाता है। ऐसे विधि-निषेधका वर्णन यहाँ नहीं है। यहाँ तो विभूतियोंका वर्णन है। ‘मैं आपका चिन्तन कहाँ-कहाँ करूँ?’—अर्जुनके इस प्रश्नके अनुसार भगवान्ने विभूतियोंके रूपमें अपने चिन्तनकी बात ही बताया है अर्थात् भगवान्का चिन्तन सुगमतासे हो जाय, इसका उपाय विभूतियोंके रूपमें बताया है। अतः जिस समुदायमें मनुष्य रहता है, उस समुदायमें जहाँ दृष्टि पड़े, वहाँ संसारको न देखकर भगवान्को ही देखे; क्योंकि भगवान् कहते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् मेरेसे व्याप्त है अर्थात् इस जगत्में मैं ही व्याप्त हूँ, परिपूर्ण हूँ (गीता—नवें अध्यायका चौथा श्लोक)।

जैसे किसी साधकका पहले जुआ खेलनेका व्यसन रहा हो और अब वह भगवान्के भजनमें लगा है। उसको कभी जुआ याद आ जाय तो उस जुआका चिन्तन छोड़नेके लिये वह उसमें भगवान्का चिन्तन करे कि इस जुआके खेलमें हार-जीतकी जो विशेषता है, वह भगवान्की ही

है। इस प्रकार जूएमें भगवान्को देखनेसे जुआका चिन्तन तो छूट जायगा और भगवान्का चिन्तन होने लगेगा। ऐसे ही किसी दूसरेको जुआ खेलते देखा और उसमें हार-जीतको देखा, तो हराने और जितानेकी शक्तिको जुआकी न मानकर भगवान्की ही माने। कारण कि खेल तो समाप्त हो रहा है और समाप्त हो जायगा, पर परमात्मा उसमें निरन्तर रहते हैं और रहेंगे। इस प्रकार जुआ आदिको विभूति कहनेका तात्पर्य भगवान्के चिन्तनमें है^१।

जीव स्वयं साक्षात् परमात्माका अंश है, पर इसने भूलसे असत् शरीर-संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया है। अगर यह संसारमें दीखनेवाली महत्ता, विशेषता, शोभा आदिको परमात्माकी ही मानकर परमात्माका चिन्तन करेगा तो यह परमात्माकी तरफ जायगा अर्थात् इसका उद्धार हो जायगा (गीता—आठवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक); और अगर महत्ता, विशेषता, शोभा आदिको संसारकी मानकर संसारका चिन्तन करेगा तो यह संसारकी तरफ जायगा अर्थात् इसका पतन हो जायगा (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)। इसलिये परमात्माका चिन्तन करते हुए परमात्माको तत्त्वसे जाननेके उद्देश्यसे ही इन विभूतियोंका वर्णन किया गया है।

‘तेजस्तेजस्विनामहम्’^२—महापुरुषोंके उस दैवी-सम्पत्तिवाले प्रभावका नाम तेज है, जिसके सामने पापी पुरुष भी पाप करनेमें हिचकते हैं। इस तेजको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है।

‘जयोऽस्मि’—विजय प्रत्येक प्राणीको प्रिय लगती है। विजयकी यह विशेषता भगवान्की है। इसलिये विजयको

१-किसी ग्रन्थके किसी अंशपर शंका हो, तो उस ग्रन्थका आदिसे अन्ततक अध्ययन करके उसमें वक्ताके उद्देश्यको, लक्ष्यको और आशयको समझनेसे उस शंकाका समाधान हो जाता है।

२-सातवें अध्यायमें जहाँ भगवान्ने कारणरूपसे विभूतियोंका वर्णन किया है, वहाँ भी यही पद आया है—‘तेजस्तेजस्विनामहम्’ (७।१०)।

भगवान्ने अपनी विभूति बताया है।

अपने मनके अनुसार अपनी विजय होनेसे जो सुख होता है, उसका उपभोग न करके उसमें भगवद्बुद्धि करनी चाहिये कि विजयरूपसे भगवान् आये हैं।

‘व्यवसायोऽस्मि’—व्यवसाय नाम एक निश्चयका है। इस एक निश्चयकी भगवान्ने गीतामें बहुत महिमा गायी है; जैसे—कर्मयोगीकी निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है (दूसरे अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक); भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त पुरुषोंकी निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती (दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक) ‘अब तो मैं केवल भगवान्का भजन ही करूँगा’—इस एक निश्चयके बलपर दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्यको भी भगवान् साधु बताते हैं (नवें अध्यायका तीसवाँ श्लोक)। इस प्रकार भगवान्की तरफ चलनेका जो निश्चय है, उसको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है।

निश्चयको अपनी विभूति बतानेका तात्पर्य है कि साधकको ऐसा निश्चय तो रखना ही चाहिये, पर इसको अपना गुण नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत ऐसा मानना चाहिये कि यह भगवान्की विभूति है और उन्हींकी कृपासे मुझे प्राप्त हुई है।

‘सत्त्वं सत्त्ववतामहम्’—सात्त्विक मनुष्योंमें जो सत्त्व गुण है, जो सात्त्विक भाव और आचरण है, वह भी भगवान्की विभूति है। तात्पर्य है कि रजोगुण और तमोगुणको दबाकर जो सात्त्विक भाव बढ़ता है, उस सात्त्विक भावको साधक अपना गुण न मानकर भगवान्की विभूति माने।

तेज, व्यवसाय, सात्त्विक भाव आदि अपनेमें अथवा दूसरोंमें देखनेमें आये तो साधक इनको अपना अथवा किसी वस्तु-व्यक्तिका गुण न माने, प्रत्युत भगवान्का ही गुण माने। उन गुणोंकी तरफ दृष्टि जानेपर उनमें तत्त्वतः भगवान्को देखकर भगवान्को ही याद करना चाहिये।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।

मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

वृष्णीनाम्	= वृष्णवंशियोंमें	धनञ्जयः	= अर्जुन	कवीनाम्	= कवियोंमें
वासुदेवः	= वासुदेवपुत्र श्रीकृष्ण (और)	अस्मि	= मैं हूँ।	उशना, कविः	= कवि शुक्राचार्य
पाण्डवानाम्	= पाण्डवोंमें	मुनीनाम्	= मुनियोंमें	अपि	= भी
		व्यासः	= वेदव्यास (और)	अहम्	= मैं हूँ।

व्याख्या—‘वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि’—यहाँ भगवान् श्रीकृष्णके अवतारका वर्णन नहीं है, प्रत्युत वृष्णवंशियोंमें अपनी जो विशेषता है, उस विशेषताको लेकर भगवान्ने अपना विभूतिरूपसे वर्णन किया है।

यहाँ भगवान्का अपनेको विभूतिरूपसे कहना तो संसारकी दृष्टिसे है, स्वरूपकी दृष्टिसे तो वे साक्षात् भगवान् ही हैं। इस अध्यायमें जितनी विभूतियाँ आयी हैं, वे सब संसारकी दृष्टिसे ही हैं। तत्त्वतः तो वे परमात्मस्वरूप ही हैं।

‘पाण्डवानां धनञ्जयः’—पाण्डवोंमें अर्जुनकी जो विशेषता है, वह विशेषता भगवान्की ही है। इसलिये भगवान्ने अर्जुनको अपनी विभूति बताया है।

‘मुनीनामप्यहं व्यासः’—वेदका चार भागोंमें विभाग, पुराण, उपपुराण, महाभारत आदि जो कुछ संस्कृत वाङ्मय है, वह सब-का-सब व्यासजीकी कृपाका ही फल है। आज भी कोई नयी रचना करता है तो उसे भी व्यासजीका

ही उच्छिष्ट माना जाता है। कहा भी है—‘व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।’ इस तरह सब मुनियोंमें व्यासजी मुख्य हैं। इसलिये भगवान्ने व्यासजीको अपनी विभूति बताया है। तात्पर्य है कि व्यासजीमें विशेषता दीखते ही भगवान्की याद आनी चाहिये कि यह सब विशेषता भगवान्की है और भगवान्से ही आयी है।

‘कवीनामुशना कविः’—शास्त्रीय सिद्धान्तोंको ठीक तरहसे जाननेवाले जितने भी पण्डित हैं, वे सभी ‘कवि’ कहलाते हैं। उन सब कवियोंमें शुक्राचार्यजी मुख्य हैं। शुक्राचार्यजी संजीवनी विद्याके ज्ञाता हैं। इनकी शुक्रनीति प्रसिद्ध है। इस प्रकार अनेक गुणोंके कारण भगवान्ने इन्हें अपनी विभूति बताया है।

इन विभूतियोंकी महत्ता देखकर कहीं भी बुद्धि अटके, तो उस महत्ताको भगवान्की ही माननी चाहिये; क्योंकि वह महत्ता एक क्षण भी स्थायीरूपसे न टिकनेवाले संसारकी नहीं हो सकती।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् । मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

दमयताम्	= दमन करनेवालोंमें	अस्मि	= मैं हूँ ।	ज्ञानवताम्	= ज्ञानवानोंमें
दण्डः	= दण्डनीति (और)	गुह्यानाम्	= गोपनीय भावोंमें	ज्ञानम्	= ज्ञान
जिगीषताम्	= विजय चाहने- वालोंमें	मौनम्	= मौन	अहम्	= मैं
नीतिः	= नीति	अस्मि	= मैं हूँ	एव	= ही
		च	= और	अस्मि	= हूँ ।

व्याख्या—‘दण्डो दमयतामस्मि’—दुष्टोंको दुष्टतासे बचाकर सन्मार्गपर लानेके लिये दण्डनीति मुख्य है। इसलिये भगवान्ने इसको अपनी विभूति बताया है।

‘नीतिरस्मि जिगीषताम्’—नीतिका आश्रय लेनेसे ही मनुष्य विजय प्राप्त करता है और नीतिसे ही विजय ठहरती है। इसलिये नीतिको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है।

‘मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्’—गुप्त रखनेयोग्य जितने भाव हैं, उन सबमें मौन (वाणीका संयम अर्थात् चुप रहना) मुख्य है; क्योंकि चुप रहनेवालेके भावोंको हरेक व्यक्ति नहीं जान सकता। इसलिये गोपनीय भावोंमें

भगवान्ने मौनको अपनी विभूति बताया है।

‘ज्ञानं ज्ञानवतामहम्’—संसारमें कला-कौशल आदिको जाननेवालोंमें जो ज्ञान (जानकारी) है, वह भगवान्की विभूति है। तात्पर्य है कि ऐसा ज्ञान अपनेमें और दूसरोंमें देखनेमें आये, तो इसे भगवान्की ही विभूति माने।

यहाँ सामान्य शास्त्रज्ञानसे लेकर तत्त्वज्ञानतक सब-का-सब ज्ञान ‘ज्ञानं ज्ञानवतामहम्’ के अन्तर्गत ले सकते हैं।

इन सब विभूतियोंमें जो विलक्षणता है, वह इनकी व्यक्तिगत नहीं है, प्रत्युत परमात्माकी ही है। इसलिये परमात्माकी तरफ ही दृष्टि जानी चाहिये।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन । न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

च	= और	अपि	= भी	अस्ति	= है,
अर्जुन	= हे अर्जुन !	अहम्	= मैं ही हूँ; (क्योंकि)	यत्	= जो
सर्वभूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंका	तत्	= वह	मया	= मेरे
यत्	= जो	चराचरम्	= चर-अचर (कोई)	विना	= बिना
बीजम्	= बीज (मूल कारण) है,	भूतम्	= प्राणी	स्यात्	= हो अर्थात् चर- अचर सब कुछ
तत्	= वह बीज	न	= नहीं		मैं ही हूँ।

व्याख्या—[भगवान्ने बीसवें श्लोकसे उनतालीसवें श्लोकतक अपनी कुल बयासी विभूतियोंका वर्णन किया है; जैसे—बीसवें श्लोकमें चार, इक्कीसवें श्लोकमें चार, बाईसवें श्लोकमें चार, तेईसवें श्लोकमें चार, चौबीसवें श्लोकमें तीन, पचीसवें श्लोकमें चार, छब्बीसवें श्लोकमें चार, सत्ताईसवें श्लोकमें तीन, अट्ठाईसवें श्लोकमें चार, उनतीसवें श्लोकमें चार, तीसवें श्लोकमें चार, इकतीसवें श्लोकमें चार, बत्तीसवें श्लोकमें पाँच, तैंतीसवें श्लोकमें चार, चौतीसवें श्लोकमें नौ, पैंतीसवें श्लोकमें चार, छत्तीसवें श्लोकमें पाँच, सैंतीसवें श्लोकमें चार, अड़तीसवें

श्लोकमें चार और उनतालीसवें श्लोकमें एक विभूतिका वर्णन किया है।]

‘यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन’—यहाँ भगवान् समस्त विभूतियोंका सार बताते हैं कि सबका बीज अर्थात् कारण मैं ही हूँ। बीज कहनेका तात्पर्य है कि इस संसारका निमित्त कारण भी मैं हूँ और उपादान कारण भी मैं हूँ अर्थात् संसारको बनानेवाला भी मैं हूँ और संसाररूपसे बननेवाला भी मैं हूँ।

भगवान्ने सातवें अध्यायके दसवें श्लोकमें अपनेको ‘सनातन बीज’, नवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें ‘अव्यय

बीज' और यहाँ केवल 'बीज' बताया है। इसका तात्पर्य है कि मैं ज्यों-का-त्यों रहता हुआ ही संसाररूपसे प्रकट हो जाता हूँ और संसाररूपसे प्रकट होनेपर भी मैं उसमें ज्यों-का-त्यों व्यापक रहता हूँ।

'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्'—संसारमें जड़-चेतन, स्थावर-जंगम, चर-अचर आदि जो कुछ भी देखनेमें आता है, वह सब मेरे बिना नहीं हो सकता। सब मेरेसे ही होते हैं अर्थात् सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ। इस वास्तविक मूल तत्त्वको जानकर साधककी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि जहाँ-कहीं जायँ अथवा मन-बुद्धिमें संसारकी जो कुछ बात याद आये, उन सबको भगवान्का ही स्वरूप माने। ऐसा माननेसे साधकको भगवान्का ही चिन्तन होगा, दूसरेका नहीं; क्योंकि तत्त्वसे भगवान्के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं।

यहाँ भगवान्ने कहा है कि मेरे सिवाय चर-अचर कुछ नहीं है अर्थात् सब कुछ मैं ही हूँ और अठारहवें अध्यायके चालीसवें श्लोकमें कहा है कि सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके सिवाय कुछ नहीं है अर्थात् सब गुणोंका ही कार्य है। इस भेदका तात्पर्य है कि यहाँ भक्तियोगका प्रकरण है। इस प्रकरणमें अर्जुनने प्रश्न किया है कि मैं आपका कहाँ-कहाँ चिन्तन करूँ? इसलिये उत्तरमें भगवान्ने कहा कि तेरे मनमें जिस-जिसका चिन्तन होता है, वह सब मैं ही हूँ। परन्तु वहाँ (१८।४० में) सांख्ययोगका प्रकरण है। सांख्ययोगमें प्रकृति और पुरुष—दोनोंके विवेककी तथा प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी प्रधानता है। प्रकृतिका कार्य होनेसे मात्र सृष्टि त्रिगुणमयी है। इसलिये वहाँ तीनों गुणोंसे रहित कोई नहीं है—ऐसा कहा गया है।

विशेष बात

भगवान्ने 'अहमात्मा गुडाकेश' (१०।२०)से लेकर 'बीजं तदहमर्जुन' (१०।३९) तक जो बयासी विभूतियाँ कही हैं, उनका तात्पर्य छोटा-बड़ा, उत्तम-मध्यम-अधम

बतानेमें नहीं है, प्रत्युत यह बतानेमें है कि कोई भी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि सामने आये तो उसमें भगवान्का ही चिन्तन होना चाहिये^१। कारण कि मूलमें अर्जुनका प्रश्न यही था कि आपका चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ और किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ? (सत्रहवाँ श्लोक)। उस प्रश्नके उत्तरमें चिन्तन करनेके लिये ही भगवान्ने अपनी विभूतियोंका संक्षिप्त वर्णन किया है।

जैसे यहाँ गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे अपनी विभूतियाँ कही हैं, ऐसे ही श्रीमद्भागवतमें (ग्यारहवें स्कन्धके सोलहवें अध्यायमें) भगवान्ने उद्धवजीसे अपनी विभूतियाँ कही हैं। गीतामें कही कुछ विभूतियाँ भागवतमें नहीं आयी हैं और भागवतमें कही कुछ विभूतियाँ गीतामें नहीं आयी हैं। गीता और भागवतमें कही गयी कुछ विभूतियोंमें तो समानता है, पर कुछ विभूतियोंमें दोनों जगह अलग-अलग बात आयी है; जैसे—गीतामें भगवान्ने पुरोहितोंमें बृहस्पतिको अपनी विभूति बताया है—'पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्'(१०।२४) और भागवतमें भगवान्ने पुरोहितोंमें वसिष्ठजीको अपनी विभूति बताया है—'पुरोधसां वसिष्ठोऽहम्'(११।१६।२२)। अब शंका यह होती है कि गीता और भागवतकी विभूतियोंका वक्ता एक होनेपर भी दोनोंमें एक समान बात क्यों नहीं मिलती? इसका समाधान यह है कि वास्तवमें विभूतियाँ कहनेमें भगवान्का तात्पर्य किसी वस्तु, व्यक्ति आदिकी महत्ता बतानेमें नहीं है, प्रत्युत अपना चिन्तन करानेमें है। अतः गीता और भागवत—दोनों ही जगह कही हुई विभूतियोंमें भगवान्का चिन्तन करना ही मुख्य है। इस दृष्टिसे जहाँ-जहाँ विशेषता दिखायी दे, वहाँ-वहाँ वस्तु, व्यक्ति आदिकी विशेषता न देखकर केवल भगवान्की ही विशेषता देखनी चाहिये और भगवान्की ही तरफ वृत्ति जानी चाहिये।

परिशिष्ट भाव—सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्तिके चार खानि (स्थान) हैं—१. **जरायुज**—जेरके साथ पैदा होनेवाले मनुष्य, गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि; २. **अण्डज**—अण्डेसे पैदा होनेवाले पक्षी, साँप, गिलहरी, छिपकली आदि; ३. **उद्भिज्ज**—पृथ्वीका भेदन करके उपरकी तरफ निकलनेवाले वृक्ष, लता, दूब, घास, अनाज आदि; और ४. **स्वेदज**—

१-इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम्॥ (श्रीमद्भा० ११।२८।७)

२-यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

(महानारायणोपनिषद् ११।६)

'यह जो कुछ भी जगत् देखने या सुननेमें आता है, इस सबको बाहर और भीतरसे व्याप्त करके भगवान् नारायण स्थित हैं।'

पसीनेसे पैदा होनेवाले जूँ, लीख आदि तथा वर्षामें जमीनसे पैदा होनेवाले केंचुए आदि जीव। इन चार स्थानोंसे चौरासी लाख योनियाँ पैदा होती हैं। इन योनियोंमें दो तरहके जीव होते हैं—स्थावर और जंगम। वृक्ष, लता, दूब, घास आदि एक ही जगह रहनेवाले जीव 'स्थावर' हैं और मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चलने-फिरनेवाले जीव 'जंगम' हैं। इन जीवोंमें भी कोई जलमें रहनेवाले हैं, कोई आकाशमें रहनेवाले हैं और कोई भूमिपर रहनेवाले हैं। इन चौरासी लाख योनियोंके सिवाय देवता, पितर, गन्धर्व, भूत, प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, पूतना, बालग्रह आदि कई योनियाँ हैं। इन सम्पूर्ण योनियोंके बीज अर्थात् मूल कारण भगवान् हैं। तात्पर्य है कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त जीव हैं, पर उन सबका बीज एक ही है! इसलिये सब रूपोंमें एक भगवान् ही हैं—'वासुदेवः सर्वम्'।

जैसे बीजसे खेती होती है, ऐसे ही एक भगवान्से यह सम्पूर्ण संसार हुआ है। जिस प्रकार बाजरीसे बाजरी ही पैदा होती है, गेहूँसे गेहूँ ही होता है, पशुसे पशु ही होते हैं, मनुष्यसे मनुष्य ही होते हैं, इसी प्रकार भगवान्से भगवान् ही होते हैं अर्थात् संसाररूपसे भगवान् ही प्रकट होते हैं! जैसे सोनेसे बने गहने सोनारूप ही होते हैं, लोहेसे बने औजार लोहारूप ही होते हैं, मिट्टीसे बने बर्तन मिट्टीरूप ही होते हैं, रुईसे बने वस्त्र रुईरूप ही होते हैं, ऐसे ही भगवान्से होनेवाला संसार भी भगवद्रूप ही है।

लौकिक बीजसे तो एक ही प्रकारकी खेती पैदा होती है। जैसे, गेहूँके बीजसे गेहूँ ही पैदा होता है, ऐसा नहीं होता कि एक ही बीजसे गेहूँ भी पैदा हो जाय, बाजरी भी पैदा हो जाय, मोठ भी पैदा हो जाय, मूँग भी पैदा हो जाय। सबके बीज अलग-अलग होते हैं। परन्तु भगवान्रूपी बीज इतना विलक्षण बीज है कि उस एक ही बीजसे अनेक प्रकारकी सृष्टि पैदा हो जाती है (गीता—चौदहवें अध्यायका चौथा श्लोक) और सब प्रकारकी सृष्टि पैदा होनेपर भी उसमें कोई विकृति नहीं आती, वह ज्यों-का-त्यों रहता है; क्योंकि वह बीज 'अव्यय' है (गीता—नवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक) और 'सनातन' है। (गीता—सातवें अध्यायका दसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—अब आगेके श्लोकमें भगवान् अपनी दिव्य विभूतियोंके कथनका उपसंहार करते हैं।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

परन्तप	= हे परन्तप अर्जुन!	न	= नहीं	प्रोक्तः	= कहा है,
मम	= मेरी	अस्ति	= है।	एषः	= यह
दिव्यानाम्	= दिव्य	मया	= मैंने (तुम्हारे सामने अपनी)	तु	= तो (केवल)
विभूतीनाम्	= विभूतियोंका	विभूतेः	= विभूतियोंका जो	उद्देशतः	= संक्षेपसे नाममात्र
अन्तः	= अन्त	विस्तरः	= विस्तार		कहा है।

व्याख्या—'मम दिव्यानां * विभूतीनाम्'—'दिव्य' शब्द अलौकिकता, विलक्षणताका द्योतक है। साधकका मन जहाँ चला जाय, वहीं भगवान्का चिन्तन करनेसे यह दिव्यता वहीं प्रकट हो जायगी; क्योंकि भगवान्के समान दिव्य कोई है ही नहीं। देवता जो दिव्य कहे जाते हैं, वे भी नित्य ही भगवान्के दर्शनकी इच्छा रखते हैं,—'नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः' (गीता ११।५२)। इससे यही सिद्ध होता है कि दिव्यातिदिव्य तो एक भगवान् ही हैं। इसलिये भगवान्की जितनी भी विभूतियाँ हैं, तत्त्वसे वे सभी दिव्य हैं। परन्तु साधकके सामने उन विभूतियोंकी दिव्यता तभी प्रकट होती है, जब उसका उद्देश्य केवल एक भगवत्प्राप्तिका ही होता है और भगवत्तत्त्व जाननेके लिये राग-द्वेषसे रहित होकर उन विभूतियोंमें केवल भगवान्का ही चिन्तन करता है।

* अर्जुनने पहले प्रार्थनाके रूपमें पूछा था—'वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः' (१०।१६)। भगवान्ने विभूतियोंका वर्णन आरम्भ करते हुए कहा—'हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः' (१०।१९)। और यहाँ उसका उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं—'नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप' (१०।४०)। इस तरह प्रार्थना- (प्रश्न-) में, उपक्रममें और उपसंहारमें—तीनों जगह 'दिव्य' पदकी एकता है।

‘नान्तोऽस्ति’—भगवान्की दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है। कारण कि भगवान् अनन्त हैं तो उनकी विभूतियाँ, गुण, लीलाएँ आदि भी अनन्त हैं—‘हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता’ (मानस १। १४०। ५)। इसलिये भगवान्ने विभूतियोंके उपक्रममें और उपसंहारमें—दोनों ही जगह कहा है कि मेरी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं है। श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने अपनी विभूतियोंके विषयमें कहा है कि ‘मेरे द्वारा परमाणुओंकी संख्या समयसे गिनी जा सकती है, पर करोड़ों ब्रह्माण्डोंको रचनेवाली मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं पाया जा सकता।’

भगवान् अनन्त, असीम और अगाध हैं। संख्याकी दृष्टिसे भगवान् ‘अनन्त’ हैं अर्थात् उनकी गणना परार्द्धतक नहीं हो सकती। सीमाकी दृष्टिसे भगवान् ‘असीम’ हैं। सीमा दो तरहकी होती है—कालकृत और देशकृत। अमुक समय पैदा हुआ और अमुक समयतक रहेगा—यह कालकृत सीमा हुई; और यहाँसे लेकर वहाँतक—यह देशकृत सीमा हुई। भगवान् ऐसे सीमामें बँधे हुए नहीं हैं। तलकी दृष्टिसे भगवान् ‘अगाध’ हैं। अगाध शब्दमें ‘गाध’ नाम ‘तल’ का है; जैसे, जलमें नीचेका तल होता है। अगाधका

अर्थ हुआ—जिसका तल है ही नहीं, ऐसा अथाह गहरा।

‘एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया’—अठारहवें श्लोकमें अर्जुनने कहा कि आप अपनी दिव्य विभूतियोंको विस्तारसे कहिये, तो उत्तरमें भगवान्ने कहा कि मेरी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं है। ऐसा कहकर भी भगवान्ने अर्जुनकी जिज्ञासाके कारण कृपापूर्वक अपनी विभूतियोंका विस्तारसे वर्णन किया। परन्तु यह विस्तार केवल लौकिक दृष्टिसे ही है। इसलिये भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि मैंने यहाँ जो विभूतियोंका विस्तार किया है, वह विस्तार केवल तेरी दृष्टिसे ही है। मेरी दृष्टिसे तो यह विस्तार भी वास्तवमें बहुत ही संक्षेपसे (नाममात्रका) है; क्योंकि मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है।

[इस अध्यायमें बतायी गयी सम्पूर्ण विभूतियाँ सबके काम नहीं आतीं, प्रत्युत ऐसी अनेक दूसरी विभूतियाँ भी काममें आती हैं, जिनका यहाँ वर्णन नहीं हुआ है। अतः साधकको चाहिये कि जहाँ-जहाँ किसी विशेषताको लेकर मन खिंचता हो, वहाँ-वहाँ उस विशेषताको भगवान्की ही माने और भगवान्का ही चिन्तन करे; चाहे वह विभूति यहाँ भगवान्द्वारा कही गयी हो अथवा न कही गयी हो।]

परिशिष्ट भाव—गीतामें भगवान्ने कारणरूपसे सत्रह विभूतियाँ (सातवें अध्यायके आठवेंसे बारहवें श्लोकतक), कार्य-कारणरूपसे सैंतीस विभूतियाँ (नवें अध्यायके सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक), भावरूपसे बीस विभूतियाँ (दसवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक), व्यक्तिरूपसे पचीस विभूतियाँ (दसवें अध्यायका छठा श्लोक), मुख्यरूपसे तथा अधिपतिरूपसे इक्यासी विभूतियाँ (दसवें अध्यायके बीसवेंसे अड़तीसवें श्लोकतक), साररूपसे एक विभूति (दसवें अध्यायका उनतालीसवाँ श्लोक) और प्रभावरूपसे तेरह विभूतियाँ (पन्द्रहवें अध्यायके बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक) बतायी हैं। इन सबका तात्पर्य यही है कि एक भगवान्के सिवाय कुछ नहीं है। सब रूपोंमें एक भगवान्-ही-भगवान् हैं। सब भगवान्का ही समग्ररूप है। असत् परिवर्तनशील है और सत् अपरिवर्तनशील है। ये सत् (परा) और असत् (अपरा)—दोनों ही भगवान्की विभूतियाँ हैं—‘सदसच्चाहमर्जुन’ (गीता ९। १९)। तात्पर्य है कि विभूतिरूपसे साक्षात् भगवान् ही हैं। अतः जिसमें हमारा आकर्षण होता है, वह वास्तवमें भगवान्का ही आकर्षण है। परन्तु भोगबुद्धिके कारण वह आकर्षण भगवत्प्रेममें परिणत न होकर काम, आसक्तिमें परिणत हो जाता है, जो संसारमें बाँधनेवाला है।

गीतामें भगवान्ने ब्रह्मको भी ‘माम्’ (अपना स्वरूप) कहा है (आठवें अध्यायका तेरहवाँ श्लोक), देवताओंको भी ‘माम्’ कहा है (नवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक), इन्द्रको भी ‘माम्’ कहा है (नवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक), उत्तम गतिको भी ‘माम्’ कहा है (सातवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक), क्षेत्रज्ञ-(जीवात्मा-)को भी ‘माम्’ कहा है (तेरहवें अध्यायका दूसरा श्लोक), सबके शरीरमें रहनेवाले अन्तर्यामीको भी ‘माम्’ कहा है (सोलहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक), सम्पूर्ण प्राणियोंके बीजको भी ‘माम्’ कहा है (सातवें अध्यायका दसवाँ श्लोक) आदि। तात्पर्य है कि सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार तथा मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, भूत, प्रेत, पिशाच आदि जो कुछ भी है, वह सब मिलकर भगवान्का ही समग्ररूप है अर्थात् सब भगवान्की ही विभूतियाँ हैं, उनका ही ऐश्वर्य है। ये सब-की-सब

१-संख्यानं परमाणूनां कालेन क्रियते मया। न तथा मे विभूतीनां सृजतोऽण्डानि कोटिशः ॥ (श्रीमद्भा० ११। १६। ३९)

२-सर्वे च देवा मनवस्समस्तास्सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च। इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः ॥

(विष्णुपुराण ३। १। ४६)

विभूतियाँ अव्यय (अविनाशी) हैं।

यहाँ शंका होती है कि जब सम्पूर्ण संसार ही भगवत्स्वरूप है, तो फिर विभूति-वर्णनका तात्पर्य क्या है? इसका समाधान है कि अर्जुनका प्रश्न ही यही था कि मैं कहाँ-कहाँ आपका चिन्तन करूँ (इसी अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)? वास्तवमें सब कुछ भगवान्‌का समग्ररूप ही है, पर मनुष्यको जिस वस्तुमें विशेषता दीखती है, उस वस्तुमें भगवान्‌को देखना, उनका चिन्तन करना सुगम पड़ता है; क्योंकि मनमें उसकी विशेषता अंकित रहनेसे मन स्वतः उसमें जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है। मुख्य-मुख्य विभूतियोंका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने कहा कि सम्पूर्ण प्राणियोंका एवं सृष्टिमात्रका आदि, मध्य तथा अन्त में ही हूँ (दसवें अध्यायका बीसवाँ और बत्तीसवाँ श्लोक), सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज मैं ही हूँ, मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है (इसी अध्यायका उनतालीसवाँ श्लोक), और सम्पूर्ण जगत् मेरे एक अंशमें स्थित है (इसी अध्यायका बयालीसवाँ श्लोक), फिर भगवान्‌के सिवाय बाकी क्या रहा? कुछ भी बाकी नहीं रहा! सब कुछ भगवान् ही हुए—‘वासुदेवः सर्वम्’ (गीता ७।१९)।

गीतामें विभूति-वर्णन गौण नहीं है, प्रत्युत यह भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन है, जिसकी सिद्धि ‘वासुदेवः सर्वम्’ में होती है। कारण कि संसारमें हमें जहाँ भी कोई विशेषता दिखायी दे, उसको भगवान्‌की ही विशेषता माननेसे हमारा आकर्षण उस वस्तु, व्यक्ति आदिमें न होकर भगवान्‌में ही होगा। जड़ताका आकर्षण, प्रियता ही मनुष्यको बाँधनेवाली है—‘कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु’ (गीता १३।२१)। अतः विभूति-वर्णनका तात्पर्य संसारकी सत्ता, महत्ता और प्रियताको हटाकर मनुष्यको ‘वासुदेवः सर्वम्’ का अनुभव कराना है, जो कि गीताका खास ध्येय है।

संसारकी सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध ही मनुष्यको बाँधनेवाला है। इसलिये संसारमें जहाँ मनुष्यका ज्यादा आकर्षण होता है, वहाँ उसकी भोगबुद्धि न होकर भगवद्बुद्धि हो जायगी तो उसके अन्तःकरणमें संसारकी सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध न होकर भगवान्‌की सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध हो जायगा*।

सम्बन्ध—अठारहवें श्लोकमें अर्जुनने भगवान्‌से विभूति और योग बतानेकी प्रार्थना की। इसपर भगवान्‌ने पहले अपनी विभूतियोंको बताया और अब आगेके श्लोकमें योग बताते हैं।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम् ॥ ४१ ॥

यत्, यत्	= जो-जो	सत्त्वम्	= प्राणी तथा	तेजः	= तेज-(योग
एव	= भी		पदार्थ है,		अर्थात्
विभूतिमत्	= ऐश्वर्ययुक्त,	तत्, तत्	= उस-उसको		सामर्थ्य-)के
श्रीमत्	= शोभायुक्त	त्वम्	= तुम	अंशसम्भवम्	= अंशसे
वा	= और	मम	= मेरे		उत्पन्न हुई
ऊर्जितम्	= बलयुक्त	एव	= ही	अवगच्छ	= समझो।

व्याख्या—‘यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा’— जो कुछ भी विशेषता, विलक्षणता, योग्यता दीखे, उन सबको मेरे तेजके किसी एक अंशसे उत्पन्न हुई जानो। संसारमात्रमें जिस-किसी सजीव-निर्जीव वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, गुण, भाव, क्रिया आदिमें जो कुछ तात्पर्य है कि उनमें वह विलक्षणता मेरे योगसे, सामर्थ्यसे, ऐश्वर्य दीखे, शोभा या सौन्दर्य दीखे, बलवत्ता दीखे तथा प्रभावसे ही आयी है—ऐसा तुम समझो—‘तत्तदेवावगच्छ’

‘समस्त देवता, मनु, सप्तर्षि तथा मनुपुत्र और देवताओंके अधिपति इन्द्र तथा इनके सिवाय जो कुछ है—ये सब-की-सब भगवान् विष्णुकी ही विभूतियाँ हैं।’

* ‘नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्। स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि ॥

(श्रीमद्भा० ११।२९।१५)

‘जब भक्तका सम्पूर्ण स्त्री-पुरुषोंमें निरन्तर मेरा ही भाव हो जाता है अर्थात् उनमें मुझे ही देखता है, तब शीघ्र ही उसके चित्तसे ईर्ष्या, दोषदृष्टि, तिरस्कार आदि दोष अहंकारसहित सर्वथा दूर हो जाते हैं।

त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्।' मेरे बिना कहीं भी और कुछ भी विलक्षणता नहीं है।

मनुष्यको जिस-जिसमें विशेषता मालूम दे, उस-उसमें भगवान्की ही विशेषता मानते हुए भगवान्का ही चिन्तन होना चाहिये। अगर भगवान्को छोड़कर दूसरे वस्तु, व्यक्ति आदिकी विशेषता दीखती है, तो यह पतनका कारण है। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने मनमें यदि पतिके सिवाय दूसरे किसी पुरुषकी विशेषता रखती है, तो उसका पातिव्रत्य भंग हो जाता है, ऐसे ही भगवान्के सिवाय दूसरी किसी वस्तुकी विशेषताको लेकर मन खिंचता है, तो व्यभिचार-दोष आ जाता है अर्थात् भगवान्के अनन्यभावका व्रत भंग हो जाता है।

संसारमें छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी वस्तु, व्यक्ति, क्रिया आदिमें जो भी महत्ता, सुन्दरता, सुखरूपता दीखती है और जो कुछ लाभरूप, हितरूप दीखता है, वह वास्तवमें सांसारिक वस्तुका है ही नहीं। अगर उस वस्तुका होता तो वह सब समय रहता और सबको दीखता, पर वह न तो सब समय रहता है और न सबको दीखता है। इससे सिद्ध होता है कि वह उस वस्तुका नहीं है। तो फिर किसका है? उस वस्तुका जो आधार है, उस परमात्माका है। उस परमात्माकी झलक ही उस वस्तुमें सुन्दरता, सुखरूपता आदि रूपोंसे दीखती है। परन्तु जब मनुष्यकी वृत्ति परमात्माकी महिमाकी तरफ न जाकर उस वस्तुकी तरफ ही जाती है, तब वह संसारमें फँस जाता है। संसारमें फँसनेपर उसको न तो कुछ मिलता है और न उसकी तृप्ति ही होती है। इसमें सुख नहीं है, इससे तृप्ति नहीं होती—इतना अनुभव होनेपर भी मनुष्यका वस्तु आदिमें सुखरूपताका वहम मिटता नहीं। मनुष्यको सावधानीके साथ विचारपूर्वक देखना चाहिये कि प्रतिक्षण मिटनेवाली वस्तुमें जो सुख दीखता है, वह उसका कैसे हो सकता है! वह वस्तु प्रतिक्षण नष्ट हो रही है तो उसमें दीखनेवाली महत्ता, सुन्दरता उस वस्तुकी कैसे हो सकती है!

जैसे बिजलीके सम्बन्धसे रेडियो बोलता है तो मनुष्य राजी होता है कि देखो, इस यन्त्रसे कैसी आवाज आ रही है! पर वास्तवमें उस रेडियोमें जो कुछ शक्ति है, वह सब बिजलीकी ही है। बिजलीसे सम्बन्ध न होनेपर केवल यन्त्रसे आवाज नहीं निकाली जा सकती। अनजान व्यक्ति तो उस शक्तिको यन्त्रकी ही मान लेता है, पर जानकार

व्यक्ति उस शक्तिको बिजलीकी ही मानता है। ऐसे ही किसी वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया आदिमें जो कुछ विशेषता दीखती है, उसको अनजान मनुष्य तो उस वस्तु, व्यक्ति आदिकी ही मान लेता है, पर जानकार मनुष्य उस विशेषताको भगवान्की ही मानता है।

इसी अध्यायके आठवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि सब मेरेसे ही पैदा होते हैं और सबमें मेरी ही शक्ति है। इसमें भगवान्का तात्पर्य यही है कि तुम्हें जहाँ-कहीं और जिस-किसीमें विशेषता, महत्ता, सुन्दरता, बलवत्ता आदि दीखे, वह सब मेरी ही है, उनकी नहीं। एक वेश्या बड़े सुन्दर स्वरोंमें गाना गा रही थी, तो उसको सुनकर एक सन्त मस्त हो गये कि देखो! ठाकुरजीने कैसा कण्ठ दिया है! कितनी सुन्दर आवाज दी है! तो सन्तकी दृष्टि वेश्यापर नहीं गयी, प्रत्युत भगवान्पर गयी कि इसके कण्ठमें जो आकर्षण है, मिठास है, वह भगवान्की है। ऐसे ही कोई फूल दीखे तो राजी हो जाय कि वाह-वाह, भगवान्ने इसमें कैसी सुन्दरता भरी है! कोई किसीको बढ़िया पढ़ा रहा है तो बढ़िया पढ़ानेकी शक्ति भगवान्की है, पढ़ानेवालेकी नहीं। देवताओंको बृहस्पति प्रिय लगते हैं, रघुवंशियोंको वसिष्ठजी प्रिय लगते हैं, किसीको सिंहमें विशेषता दीखती है, किसीको रुपये बहुत प्यारे लगते हैं, तो उनमें जिस शक्ति, महत्ता, विशेषता आदिको लेकर आकर्षण, प्रियता, खिंचाव हो रहा है, वह शक्ति, महत्ता आदि भगवान्की ही है, उनकी अपनी नहीं। इस तरह जिस-किसीमें जहाँ-कहीं विशेषता दीखे, वह भगवान्की ही दीखनी चाहिये। इसलिये भगवान्ने अनेक तरहकी विभूतियाँ बतायी हैं। इसका तात्पर्य है कि उन विभूतियोंमें श्रद्धा, रुचिके भेदसे आकर्षण हरेकका अलग-अलग होगा, एक समान सबको विभूतियाँ अच्छी नहीं लगेंगी, पर उन सबमें शक्ति भगवान्की है।

यद्यपि जिस-किसीमें जो भी विशेषता है, वह परमात्माकी है, तथापि जिनसे हमें लाभ हुआ है अथवा हो रहा है, उनके हम जरूर कृतज्ञ बनें, उनकी सेवा करें। परन्तु उनकी व्यक्तिगत विशेषता मानकर वहाँ फँस न जायँ—यह सावधानी रखें।

विशेष बात

भगवान्ने बीसवें श्लोकसे लेकर उनतालीसवें श्लोकतक जितनी विभूतियाँ कही हैं, उनमें प्रायः 'अस्मि' (मैं हूँ) पदका प्रयोग किया है। केवल तीन

जगह—चौबीसवें और सत्ताईसवें श्लोकमें 'विद्धि' तथा यहाँ इकतालीसवें श्लोकमें 'अवगच्छ' पदका प्रयोग करके 'जानने' की बात कही है।

'अस्मि' (मैं हूँ) पदका प्रयोग करनेका तात्पर्य विभूतियोंके मूल तत्त्वका लक्ष्य करानेमें है कि इन सब विभूतियोंके मूलमें मैं ही हूँ। कारण कि सत्रहवें श्लोकमें अर्जुनने पूछा था कि मैं आपको कैसे जानूँ, तो भगवान्ने 'अस्मि' का प्रयोग करके सब विभूतियोंमें अपनेको जाननेकी बात कही।

दो जगह 'विद्धि' पदका प्रयोग करनेका तात्पर्य मनुष्यको सावधान, सावचेत करानेमें है। मनुष्य दोके द्वारा सावचेत होता है—ज्ञानके द्वारा और शासनके द्वारा। ज्ञान गुरुके द्वारा प्राप्त होता है और शासन स्वयं राजा करता है। अतः चौबीसवें श्लोकमें जहाँ गुरु बृहस्पतिका वर्णन आया है, वहाँ 'विद्धि' कहनेका तात्पर्य है कि तुमलोग गुरुके द्वारा मेरी विभूतियोंके तत्त्वको ठीक तरहसे समझो। विभूतियोंके तत्त्वको समझनेका फल है—मेरेमें दृढ़ भक्ति होना (गीता—इसी अध्यायका सातवाँ श्लोक)। सत्ताईसवें श्लोकमें जहाँ राजाका वर्णन आया है, वहाँ 'विद्धि' कहनेका तात्पर्य है कि तुमलोग राजाके शासनद्वारा उन्मार्गसे बचकर सन्मार्गमें लगना अर्थात् अपना जीवन शुद्ध बनाना

समझो। गुरु प्रेमसे समझाता है और राजा बलसे, भयसे समझाता है। गुरुके समझानेमें उद्धारकी बात मुख्य रहती है और राजाके समझानेमें लौकिक मर्यादाका पालन करनेकी बात मुख्य रहती है।

सत्ताईसवें श्लोकमें जो 'उच्चैःश्रवा' और 'ऐरावत' का वर्णन आया है, वे दोनों राजाके वैभवके उपलक्षण हैं। कारण कि घोड़े, हाथी आदि राजाके ऐश्वर्य हैं और ऐश्वर्यवान् राजा ही शासन करता है। इसलिये उस श्लोकमें 'विद्धि' पदका प्रयोग खास करके राजाके लिये ही किया हुआ मालूम देता है।

यहाँ इकतालीसवें श्लोकमें जो 'अवगच्छ' पद आया है, उसका अर्थ है—वास्तविकतासे समझना कि जो कुछ भी विशेषता दीखती है, वह वस्तुतः भगवान्की ही है।

इस प्रकार दो बार 'विद्धि' और एक बार 'अवगच्छ' पद देनेका तात्पर्य यह है कि गुरु और राजाके द्वारा समझानेपर भी जबतक मनुष्य स्वयं उनकी बातको वास्तविकतासे नहीं समझेगा, उनकी बातको नहीं मानेगा, तबतक गुरुका ज्ञान और राजाका शासन उसके काम नहीं आयेगा। अन्तमें तो स्वयंको ही मानना पड़ेगा और वही उसके काम आयेगा।

परिशिष्ट भाव—पहले कही गयी विभूतियोंके सिवाय भी साधकको स्वतः जिस-जिसमें व्यक्तिगत आकर्षण दीखता है, वहाँ-वहाँ भगवान्को ही देखना चाहिये अर्थात् वह विशेषता भगवान्की ही है—ऐसा दृढ़तासे धारण कर लेना चाहिये। भगवद्बुद्धिकी दृढ़ता होनेसे संसार लुप्त हो जायगा; जैसे—सोनेके गहनोंमें सोनाबुद्धि होनेसे गहने लुप्त हो जाते हैं, खाँड़के खिलौनोंमें खाँड़बुद्धि होनेसे खिलौने लुप्त हो जाते हैं। कारण कि वास्तवमें संसार है नहीं। केवल जीवने ही अपने राग-द्वेषसे संसारको धारण कर रखा है—'यद्येदं धार्यते जगत्' (गीता ७।५)। सार बात यह है कि किसी भी तरह साधकको अन्तमें 'वासुदेवः सर्वम्' (सब कुछ भगवान् ही हैं) में ही पहुँचना है। इसीलिये भगवान्ने अरुन्धतीन्यायसे 'वासुदेवः सर्वम्' का अनुभव करानेके लिये ही विभूतियोंका वर्णन किया है; क्योंकि विभूतियोंमें भगवान्को देखनेसे फिर सब जगह भगवान् दीखने लग जायँगे अर्थात् वस्तुरूपसे आकर्षण न रहकर भगवद्रूपसे आकर्षण हो जायगा।

मनुष्यमें जो भी विशेषता, विलक्षणता आती है, वह सब वास्तवमें भगवान्से ही आती है। अगर भगवान्में विशेषता, विलक्षणता न होती तो वह मनुष्यमें कैसे आती? जो चीज अंशीमें नहीं है, वह अंशमें कैसे आ सकती है? मनुष्यसे यही भूल होती है कि वह उस विशेषताको अपनी विशेषता मानकर अभिमान कर लेता है और जहाँसे वह विशेषता आयी है, उस तरफ खयाल करता ही नहीं।

सृष्टिकी प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति आदि प्रतिक्षण नाशकी ओर जा रहे हैं। हम जिस वस्तु, व्यक्ति आदिमें सुन्दरता, बलवत्ता आदि विशेषता देखते हैं, वे एक दिन नष्ट हो जाते हैं। अतः सृष्टिकी प्रत्येक वस्तु मानो यह क्रियात्मक उपदेश दे रही है कि मेरी तरफ मत देखो, मैं तो रहूँगी नहीं, मेरेको बनानेवाले और बननेवालेकी तरफ देखो। मेरेमें जो सुन्दरता, सामर्थ्य, विलक्षणता आदि दीख रही है, यह मेरी नहीं है, प्रत्युत उसकी है! ऐसा जान लेनेपर फिर वस्तु, व्यक्ति आदिमें हमारा आकर्षण नहीं रहेगा और प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति आदिमें भगवान्के ही दर्शन होंगे। ऐसा होनेपर फिर भोग नहीं होगा, प्रत्युत स्वतः योग (भगवान्के साथ नित्य-सम्बन्ध) हो जायगा।

परमात्मा सम्पूर्ण शक्तियों, कलाओं, विद्याओं आदिके विलक्षण भण्डार हैं। शक्तियाँ जड़ प्रकृतिमें नहीं रह सकतीं, प्रत्युत चिन्मय परमात्मतत्त्वमें ही रह सकती हैं। जिस ज्ञानसे क्रिया हो रही है, वह ज्ञान जड़में कैसे रह सकता है? अगर ऐसा मानें कि सब शक्तियाँ प्रकृतिमें ही हैं, तो भी यह मानना पड़ेगा कि उन शक्तियोंका प्राकट्य और उपयोग (सृष्टि-रचना आदि) करनेकी योग्यता प्रकृतिमें नहीं है। जैसे, कम्प्यूटर जड़ होते हुए भी अनेक चमत्कारिक कार्य करता है, पर उसका निर्माण और संचालन करनेवाला चेतन (मनुष्य) है। मनुष्यके द्वारा निर्मित, शिक्षित तथा संचालित हुए बिना वह कार्य नहीं कर सकता। कम्प्यूटर स्वतःसिद्ध नहीं है, प्रत्युत कृत्रिम (बनाया हुआ) है, जबकि परमात्मा स्वतःसिद्ध है।

अगर परमात्मामें विशेषता न होती तो वह संसारमें कैसे आती? जो विशेषता बीजमें होती है, वही वृक्षमें भी आती है। जो विशेषता बीजमें नहीं है, वह वृक्षमें कैसे आयेगी? उसी परमात्माकी कवित्व-शक्ति कविमें आती है, उसीकी वक्तृत्व-शक्ति वक्तामें आती है, उसीकी लेखन-शक्ति लेखकमें आती है, उसीकी दातृत्व-शक्ति दातामें आती है। मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि सब उस परमात्माका ही दिया हुआ है। यह प्रकृतिका कार्य नहीं है। अगर 'मैं मुक्तस्वरूप हूँ'—यह बात सच्ची है तो फिर बन्धन कहाँसे आया, कैसे आया, कब आया और क्यों आया? अगर 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ'—यह बात सच्ची है तो फिर अज्ञान कहाँसे आया, कैसे आया, कब आया और क्यों आया? सूर्यमें अमावसकी रात कैसे आ सकती है? वास्तवमें ज्ञान है तो परमात्माका, पर मान लिया अपना, तभी अज्ञान आया है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान मेरा है—यह 'मैं' और 'मेरा' (अहंता-ममता) ही अज्ञान है जिससे मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि मिले हैं, उसकी तरफ दृष्टि न रहनेसे ही ऐसा दीखता है कि मुक्ति मेरी है, ज्ञान मेरा है, प्रेम मेरा है। यह तो देनेवाले-(परमात्मा-) की विलक्षणता है कि लेनेवालेको वह चीज अपनी ही मालूम देती है! परमात्माकी यह विलक्षणता महान् आदर्श है, जिसका साधकोंको आदर करना चाहिये। मनुष्यसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह मिली हुई वस्तुको तो अपनी मान लेता है, पर जहाँसे वह मिली है, उस देनेवालेकी तरफ उसकी दृष्टि जाती ही नहीं! वह मिली हुई वस्तुको तो देखता है, पर देनेवालेको देखता ही नहीं! कार्यको तो देखता है, पर जिसकी शक्तिसे कार्य हुआ, उस कारणको देखता ही नहीं! वास्तवमें वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत देनेवाला अपना है।

भगवान्की दी हुई सामर्थ्यसे ही मनुष्य कर्मयोगी होता है, उनके दिये हुए ज्ञानसे ही मनुष्य ज्ञानयोगी होता है और उनके दिये हुए प्रेमसे ही मनुष्य भक्तियोगी होता है। मनुष्यमें जो भी विलक्षणता, विशेषता देखनेमें आती है, वह सब-की-सब उन्हींकी दी हुई है। सब कुछ देकर भी वे अपनेको प्रकट नहीं करते—यह उनका स्वभाव है।

सम्बन्ध—यहाँतक अर्जुनके प्रश्नोंका उत्तर देकर अब भगवान् अपनी तरफसे खास बात बताते हैं।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

अथवा	= अथवा	किम्	= क्या आवश्यकता है,	कृत्स्नम्	= सम्पूर्ण
अर्जुन	= हे अर्जुन!		(जबकि)	जगत्	= जगत्को
तव	= तुम्हें	अहम्	= मैं	विष्टभ्य	= व्याप्त करके
एतेन	= इस प्रकार	एकांशेन	= (अपने किसी) एक	स्थितः	= स्थित हूँ अर्थात्
बहुना	= बहुत-सी बातें		अंशसे		अनन्त ब्रह्माण्ड मेरे
ज्ञातेन	= जाननेकी	इदम्	= इस		किसी एक अंशमें है।

१-ज्ञान अथवा जाननेकी शक्ति प्रकृतिमें नहीं है। प्रकृति एकरस रहनेवाली नहीं है, प्रत्युत प्रतिक्षण बदलनेवाली है। अगर प्रकृतिमें ज्ञान होगा तो वह ज्ञान भी एकरस न रहकर बदलनेवाला हो जायगा। जो ज्ञान पैदा होगा, वह सदाके लिये नहीं होगा, प्रत्युत अनित्य होगा। अगर कोई माने कि ज्ञान प्रकृतिमें ही है तो उसी प्रकृतिको हम परमात्मा कहते हैं, केवल शब्दोंमें फर्क है! तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञान प्रकृतिमें नहीं है, अगर है तो वही परमात्मा है।

२-मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया ॥ (मानस, अरण्य० १५।१)

व्याख्या—‘अथवा’—यह अव्यय-पद देकर भगवान् अर्जुनसे मानो यह कह रहे हैं कि तुमने जो प्रश्न किया था, उसके अनुसार मैंने उत्तर दिया ही है; अब मैं अपनी तरफसे तेरे लिये एक विशेष महत्त्वकी सार बात बताता हूँ।

‘बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन’—भैया अर्जुन! तुम्हें इस प्रकार बहुत जाननेकी क्या जरूरत है? मैं घोड़ोंकी लगाम और चाबुक पकड़े तेरे सामने बैठा हूँ। दीखनेमें तो मैं छोटा-सा दीखता हूँ, पर मेरे इस शरीरके किसी एक अंशमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड महासर्ग और महाप्रलय—दोनों अवस्थाओंमें मेरेमें स्थित हैं। उन सबको लेकर मैं तेरे सामने बैठा हूँ और तेरी आज्ञाका पालन करता हूँ! इसलिये जब मैं स्वयं तेरे सामने हूँ, तब तेरे लिये बहुत-सी बातें जाननेकी क्या जरूरत है?

‘विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्’— मैं इस सम्पूर्ण जगत्को एक अंशसे व्याप्त करके स्थित हूँ—यह कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्के किसी भी अंशमें

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकका तात्पर्य है कि भगवान् ही जगत्-रूपसे स्थित हैं; क्योंकि व्याप्य और व्यापक, सूक्ष्म और महान्, सत् और असत्—दोनों भगवान् ही हैं। भगवान् अनन्त हैं, इसीलिये अनन्त ब्रह्माण्ड उनके किसी एक अंशमें स्थित हैं—‘एकांशेन स्थितो जगत्’।

भगवान्के कथनका तात्पर्य अपनी तरफ दृष्टि करानेमें है कि सब कुछ मैं ही तो हूँ! मेरी तरफ देखनेसे फिर कोई भी विभूति बाकी नहीं रहेगी। जब सम्पूर्ण विभूतियोंका आधार, आश्रय, प्रकाशक, बीज (मूल कारण) मैं तेरे सामने बैठा हूँ, तो फिर विभूतियोंका चिन्तन करनेकी क्या जरूरत?

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार ‘ॐ, तत्, सत्’—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें ‘विभूतियोग’ नामक दसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥ १० ॥

जहाँ-कहीं जो कुछ भी विशेषता दीखती है, वह सब भगवान्की ही विभूति है—ऐसा माननेसे भगवान्के साथ योग-(सम्बन्ध-) का अनुभव हो जाता है। इसलिये दसवें अध्यायका नाम ‘विभूतियोग’ है।

दसवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें ‘अथ दशमोऽध्यायः’ के तीन, ‘अर्जुन उवाच’ आदि पदोंके छः, श्लोकोंके पाँच सौ छप्पन और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग पाँच सौ अठहत्तर है।

(२) ‘अथ दशमोऽध्यायः’ के सात, ‘अर्जुन उवाच’ आदि पदोंके बीस, श्लोकोंके एक हजार तीन सौ चौवालीस और पुष्पिकाके छियालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार चार सौ सत्रह है। इस

अनन्त सृष्टियाँ विद्यमान हैं—‘रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड’ (मानस १। २०१)। परन्तु उन सृष्टियोंसे भगवान्का कोई अंश, भाग रुका नहीं है अर्थात् भगवान्के किसी अंशमें उन सब सृष्टियोंके रहनेपर भी वहाँ खाली जगह पड़ी है। जैसे, प्रकृतिका बहुत क्षुद्र अंश हमारी बुद्धि है। बुद्धिमें कई भाषाओंका, कई लिपियोंका, कई कलाओंका ज्ञान होनेपर भी हम ऐसा नहीं कह सकते कि हमारी बुद्धि अनेक भाषाओं आदिके ज्ञानसे भर गयी है; अतः अब दूसरी भाषा, लिपि आदि जाननेके लिये जगह नहीं रही। तात्पर्य है कि बुद्धिमें अनेक भाषाओं आदिका ज्ञान होनेपर भी बुद्धिमें जगह खाली ही रहती है और कितनी ही भाषाएँ आदि सीखनेपर भी बुद्धि भर नहीं सकती। इस प्रकार जब प्रकृतिका छोटा अंश बुद्धि भी अनेक भाषाओं आदिके ज्ञानसे नहीं भरती, तो फिर प्रकृतिसे अतीत, अनन्त, असीम और अगाध भगवान्का कोई अंश अनन्त सृष्टियोंसे कैसे भर सकता है? वह तो बुद्धिकी अपेक्षा भी विशेषरूपसे खाली रहता है।

अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें तीन उवाच हैं—दो ‘श्रीभगवानुवाच’ और एक ‘अर्जुन उवाच’।

दसवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके बयालीस श्लोकोंमेंसे—दूसरे और पचीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें ‘नगण’ प्रयुक्त होनेसे ‘न विपुला’; सातवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा पाँचवें और बत्तीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें ‘मगण’ प्रयुक्त होनेसे ‘म-विपुला’; आठवें श्लोकके प्रथम चरणमें और छब्बीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें ‘भगण’ प्रयुक्त होनेसे ‘भ-विपुला’ और छठे श्लोकके प्रथम चरणमें ‘रगण’ प्रयुक्त होनेसे ‘र-विपुला’ संज्ञावाले छन्द हैं। शेष छत्तीस श्लोक ठीक ‘पथ्यावक्र’ अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।